मरुकुंज

(क्षयरोगका निवारण)

लेखक

मथुरादास त्रिकमजी

परिचय लेखक

डॉ० जीवराज महेता एम० डी०

अनुवादक

काशिनाथ त्रिवेदी

नवजीवन प्रकाशन मंदिर

अहमदाबाद

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, कालुपुर, अहमदाबाद

पहली बार : प्रत २१००

सवा रुपया

हिन्दी संस्करणके बारेमें

गुजरातीमें 'मरुकुज' के दो सस्करण निकल चुके हैं। अब तीसरा सस्करण निकालनेका समय आ पहुँचा है। दूसरा संस्करण पहलेकी नकल ही था। तीसरे सस्करणमें मूल विषय कायम रखनेका निश्चय किया है। सिर्फ दो पूर्तियाँ निकाल डाली हैं, और 'शस्त्रक्रिया' पर एक नई पूर्ति लिखी है। यह हिन्दी अनुवाद गुजरातीके तीसरे निर्धारित सस्करणका है।

राजरोगकी परिचर्यामें वर्षों हुए, 'आहार-विहार-योग' अनिवार्य प्रतीत हुआ है। उसमें शस्त्रक्रियाका एक महत्त्वका तत्त्व बढ़ गया है। उसके बारेमे नई पूर्तिमें थोडेमें लिखा है। इस पूर्तिको भी मेरे मित्र डॉ० जीवराज महेता देख चुके हैं।

बम्बई, मथुरादास त्रिकमजी

२५–५–'४५

पुस्तकके विषयमें

जब मुझे राजरोग यानी तपेदिककी विलक्षण बीमारी लगी और इस बीमारीके सिलसिलेमें एक अर्से तक पंचगनी रहना पडा, तो वहाँ रहते हुए राजरोगके अनेक रोगियोसे जान-पहचान हुई और इस रोग पर लिखी गई पुस्तकें भी पढ़नेको मिलीं। इस परसे मनमें यह विचार आया कि इस विषयका सामान्य और उपयोगी ज्ञान सरल गुजरातीमें लिख डाला जाय तो अच्छा हो। पंचगनीके डॉ० एस० बी० वकीलने मेरी इस इच्छाका पोषण किया और अपने पासकी क्षय-संबंधी अनेक पुस्तकोका उपयोग मुझे नि.संकोच भावसे करने दिया। इस तरह उन्होने मेरी बडी मदद की, और मेरी वाचन-लेखन-संबंधी इच्छाको आसानीसे तृप्त होने दिया। मेरा वाचन व लेखन पंचगनीमें ही सन् १९२८के मध्यमें समाप्त हुआ। मेरा यह निबन्ध किसी पुस्तकका भाषान्तर नहीं है — अपने निजके वाचन, अनुभव और निरीक्षणका परिणाम है।

पुस्तककी हस्तलिपि तैयार होने पर मैंने अपनी बीमारीके दिनोंके मित्र और मार्गदर्शक डॉक्टर जीवराज महेतासे प्रार्थना की कि वे एक बार पुस्तकको देख जायँ, उसपर अपनी राय दें, और यदि वह छपाने लायक मालूम हो तो उसके लिये प्रस्तावना भी लिख दे। डॉ० महेताने मेरी प्रार्थना मंजूर की। निबन्ध उन्हें पसद आया, और जब उन्होंने इसे छपवानेकी सलाह दी तो मुझे भी इसे प्रकाशित करवानेकी हिम्मत हुई।

बबई,

ता. १०-७-'२९ मथुरादास त्रिकमजी

परिचय

कहा जा सकता है कि गुजराती भाषामें वैज्ञानिक विषयों पर इनी-गिनी किताबें ही हैं। स्वास्थ्य-संबंधी नियमों पर अंग्रेज़ीमें और यूरोपकी दूसरी भाषाओंमें आम जनताके लिये जैसी सुन्दर पुस्तकें निकली हैं, वैसी पुस्तकें भी हमारे यहाँ कम ही हैं। आजसे ठीक दस साल पहले, जब बीमारीके कारण मुझे अपना बहुतेरा वक्त आराममें बिताना पडा था. गांधीजीने मुझे सुझाया था कि मैं जनताके लिये इस तरहकी जानकारी देनेवाली कुछ पुस्तिकायें तैयार करूँ। गांधीजीको यह देखकर बडा रंज होता था कि हमारे देशमें लोग जहाँ-तहाँ थूकते हैं; जो चाहें, खाते हैं, अपने घरका कूडा-करकट बाहर निकाल कर दूसरोंके आँगनमें डाल देते हैं, गाँवके बीचोंबीच घूरे वगैरा रखते हैं। हमारी ये निजी और सामाजिक गन्दी आदतें उन्हें बहुत अखरती थीं। वे चाहते थे कि मैं लोगोंके लिये कुछ ऐसा साहित्य लिखूँ, जिससे उन्हें जीवनमें नियमितता, खुली हवा, कसरत वगैराके फायदोंका पता चले और उन्हें अच्छी रहन-सहनके कायदे मालूम हों। लेकिन कई कारणोंसे, और खासकर गुजराती भाषामें आसानीसे न लिख सकनेकी अपनी कमज़ोरीके कारण, मैं इस कामको हाथमें न ले सका। इस पुस्तकके लेखक भाई मथुरादासजीको धन्यवाद है कि उन्होंने मेरी तरह बीमार पडने पर अपने अनिवार्य आरामका उपयोग एक ऐसी उत्तम पुस्तकके लिखनेमें किया, जो गुजराती जनताको क्षयरोगका अच्छा परिचय करानेवाली और आरोग्यके नियमोंकी जानकारीसे भरी है।

यह देशका बड़ा दुर्दैव है कि पिछले ४० सालोंमें हिन्दुस्तानके सभी हिस्सोंमें तपेदिक़ या क्षयका बहुत ही फैलाव हुआ है। काठियावाड़-जैसे प्रान्तके छोटे-छोटे गाँवोंमें भी जो पहले अपनी अच्छी आबोहवाके लिये मशहूर थे, और जहाँ बड़े शहरोंके लोग हवा बदलने जाया करते थे, आज तपेदिक़का बड़ा ज़ोर है। जिस तेज़ीसे यह बीमारी देशमें फैल रही है, उसके अनेक कारण हैं। खास कारणोंमें एक कारण हमारी दिन-ब-दिन बढ़नेवाली ग़रीबी है। गाँवोंसे हरसाल इतना अनाज बाहर चला जाता है कि गाँववालोंके लिये खानेको काफ़ी नहीं रहता। इधर देशमें एकके बाद एक इतने अकाल पडे हैं कि उनकी वजहसे ढोरोंकी हालत बेहद खराब हो गई है — दूध, दही और घी जो पहले सस्ते, अच्छे और काफी मिकदारमें मिलते थे, ग़रीबोंके लिये भी सुलभ थे, वे आज सिर्फ अमीरोंकी पहुँचकी चीज़ बन गये हैं। इस तरह पर्याप्त पौष्टिक ख़ुराकके अभावमें आज तपेदिक़से लडनेकी लोगोंकी ताकत कम हो गई है।

हमारे देशवासियोंकी कई गन्दी आदतोंके कारण भी देशमें क्षयका जोर बढ़ रहा है; जैसे, हमारे यहाँ लोगोंमें जहाँ-तहाँ थूकनेकी आदत है। तपेदिकके बीमारके बलगममें क्षयके हज़ारों कीटाणु होते हैं। जब यह बलगम सूख जाता है, तो इसके रजकण धूलमें मिलकर हवाके साथ उडते हैं; और वह हवा आस-पासके रहनेवालोंकी साँसके ज़रिये उनके फेफडोंमें पहुँचती है। क्षयके कीटाणुओंवाले ये रजकण फेफडेमें रह जाते हैं और बीमारी पैदा करते हैं। तपेदिकके बीमारके आसपास रहनेवाले लोगोंमें जिनकी तन्दुरुस्ती खास तौर पर कमज़ोर होती है, वे जल्दी ही इस रोगके शिकार हो जाते हैं। जब कोई आदमी क्षयरोगसे

बीमार पड़ता है, तो उसके परिवारमें या नजदीकके सगे-सम्बन्धियोंमें भी कभी-कभी यह रोग कुछ लोगोंको सताता है। इसकी खास वजह यह है कि तपेदिकके बीमारके बलगमका काफी बन्दोबस्त नहीं हो पाता। धनवानोंको पौष्टिक ख़ूराककी कोई कमी नहीं रहती, फिर भी अनेक धनी परिवारोंमें क्षयके बीमार पाये जाते हैं। इसका एक क़ारण यह हो सकता है कि उनके नौकरोंमेंसे किसीको यह रोग हुआ हो, और उसकी जहाँ-तहाँ थूकनेकी आदतके कारण दूसरोंको उसके रोगकी छूत लग गई हो। दूसरे, अमीरोंकी रहन-सहन अकसर अनियमित होती है, जिसकी वजहसे वे इस रोगके शिकार हो जाते हैं। मसलन्, उनमें शराब वग़ैरा पीनेकी लतें होती हैं, और इन्द्रियोंकी लगाम भी ढीली रहती है। इसलिये तपेदिकके बीमारके बलग़मका जितना बन्दोबस्त किया जायगा, उतना ही यह रोग फैलनेसे रुकेगा। इसलिये इस रोगके रोगीको और उसके रिश्तेदारोंको यह जान लेना चाहिये कि बलगमको ठिकाने कैसे लगाया जाय। भाई मथुरादासजीने इस बारेमें इस पुस्तकके अन्दर कई उपयोगी सुझाव पेश किये हैं, जो हर आदमीके लिये जानने लायक हैं। यहाँ यह लिख देना जरूरी मालूम होता है कि यों तो क्षय रोगके कीटाणु बहुतेरे लोगोंके अन्दर घुस जाते हैं, लेकिन जहाँ तन्दुरुस्तीका ठीक-ठीक खयाल रक्खा जाता है, और वक्तसर आराम कर लिया जाता है, वहाँ बहुतोंको यह रोग नहीं सताता, लेकिन जहाँ स्वास्थ्यका पूरा ख़याल नहीं रक्खा जाता, वहाँ इस रोगके लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

पश्चिमी देशोंमें लोग क्षयरोगके बारेमें काफी जानने लगे हैं। नतीज़ा इसका यह हुआ है कि वहाँ इस रोगकी शिकायत दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। उधरके मुल्कोंमें इस बीमारीका

मुक़ाबिला करनेके लिये जगह-जगह सॅनेटोरियम बने हैं। बडे-बडे शहरोंमें तपेदिकको मिटानेवाले मंडल — एण्टी ट्युबरक्युलोसिस लीग्ज़ — क़ायम हुए हैं। ये मण्डल बहुत अच्छा काम करते हैं। ये इस रोगके सम्बन्धकी जानकारी देनेवाली पत्रिकायें छपाकर उनका प्रचार करते हैं। अगर तपेदिकका कोई बीमार ग़रीब हुआ, तो ये न सिर्फ मुफ्तमें या कम खर्चमें उसका इलाज ही करवा देते हैं, बल्कि अगर सारे परिवारमें वही एक कमानेवाला हुआ, तो उसके कुटुम्बियोंकी आर्थिक सहायता भी करते हैं। इस खयालसे कि एक बार अच्छा होनेके बाद बीमार फिर रोगका शिकार न हो, ये मण्डल उसे उसके लायक कोई न कोई धन्धा सिखा देते हैं, और उसके लिये आमदनीका भी कोई जरिया पैदा कर देते हैं। अगर हमारे देशमें भी ऐसी संस्थायें कायम हो, और वे इसी ढंग पर काम करें, तो यहाँ भी यह बीमारी नाबूद हो सकती है।

इस बीमारीका इलाज जितना ही जल्दी होता है, इसकी सार-सँभालमें उतनी ही आसानी होती है। इस रोगको पहचाननेके तरीके दिन-ब-दिन आसान बनते जा रहे हैं। आम तौर पर तपेदिक़ या क्षयका नाम सुनते ही बीमारका और उसके रिश्तेदारोंका दिल दहल उठता है। लेकिन सच तो यह है कि अगर शुरूसे मरीज़की ठीक-ठीक सार-सभाल की जाय, तो यह बीमारी असाध्य नहीं रहती। मगर जब लापरवाहीकी वजहसे या दूसरे कारणोंसे रोगीकी सेवा-शुश्रूषा ठीक-ठीक नहीं हो पाती, तो रोग जड जमा बैठता है और फिर उसके पंजेसे छूटना मुश्किल हो जाता है। यह मर्ज़ इतना खतरनाक सिर्फ इसी लिये माना गया है कि हम समय रहते इसका इलाज नहीं करते। इसके घातक होनेका यह एक बडा कारण है। इस रोगका इलाज करनेमें जितनी जल्दी की जायगी,

उतनी ही इसकी भयंकरता भी घटेगी। इस पुस्तकमें भाई मथुरादासजीने इस बीमारीके आरम्भिक लक्षणोंका ज़िक्र करके कई उपयोगी सूचनायें दी हैं, जो आमजनताके लिये अवश्य ही उपयोगी साबित होंगी। अगर इन सूचनाओं पर अमल किया गया, तो इस रोगके अनेक रोगियोंको स्वस्थ बनाना आसान हो जायगा।

इस पुस्तकमें लेखकने यह बताया है कि रोगके लक्षण प्रकट होनेके बाद रोगीको क्या-क्या करना चाहिये और कैसी खबरदारी रखनी चाहिये। लेखकने यह भी कहा है कि शारीरिक श्रमकी तरह मानसिक श्रमसे भी रोगीको कष्ट होता है। आम तौर पर लोगोंको मानसिक श्रमसे होनेवाले नुकसानका बहुत कम खयाल रहता है।

इसके सिवा, पुस्तकमें यह भी बताया है कि आज नये-से-नये तरीकोंसे इस बीमारीका इलाज करनेवाले सॅनेटोरियम कहाँ-कहाँ हैं। पुस्तकमें इनके संबधमें जो जानकारी दी गई है, वह भी रोगियोंके लिये बहुत उपयोगी साबित होगी।

भाई मथुरादासजीने इस पुस्तकके लिखनेमें बहुत ही मेहनत की है। उन्होंने इस बीमारीकी चर्चा करनेवाली पुस्तकोंका अध्ययन तो किया ही है, लेकिन इसके सिवा, क्षयरोगके रोगियों और डॉक्टरोंसे भी उन्होंने इस विषयकी बहुतेरी उपयोगी जानकारी प्राप्त की है। इस सारी सामग्रीके अलावा अपने निजी अनुभवका बड़े अच्छे ढगसे उपयोग करके चार सालकी अनिवार्य विश्रान्तिके फल-स्वरूप इस पुस्तकको तैयार कर उन्होंने गुजरातकी जो सेवा की है, उसके लिये गुजरातको उनका आभार मानना चाहिये।

बम्बई, जीवराज नारायण महेता

ता॰ ४–५–१९३०

सूची

	हिन्दी सस्करणके बारेमें	३
	पुस्तकके विषयमें	४
	परिचय	५
१	उद्देश्य	३
२.	चेतनरज और क्षय .	६
३	क्षयके उत्पादक कारण	११
४	क्षयके प्रकार	१६
५	क्षयके लक्षण .	१९
६	क्षयका स्वरूप	२७
७	क्षयकी चिकित्सा	३०
८	संस्था और घर	३४
९	प्रदेश	३८
१०.	आराम	४२
११	ताज़ी हवा	४९
१२.	प्रकाश	६०
१३.	आहार	६४
१४.	वस्त्र .	७३
१५.	ज्वर	७७
१६	नाडी और श्वासोच्छ्वास	८५
१७.	शोष या क्षीणता	८८
१८	क्षयके अन्य लक्षण	९२

१९. सफाई १०४
२० औषधि और अन्य उपचार १०९
२१. युक्त श्रम . ११२
२२. निवृत्तिमें प्रवृत्ति १२१
२३. नियम निष्ठा . १२६
२४. मनोदशा १२९
२५. हितैषी १३३
२६ उपचारमें समयका स्थान १३७
२७. उत्तर जीवन १४०
२८. रतिदान १४६
२९. रोकथाम १५०
३०. पूर्णाहुति १५४
३१. 'नात्मानमवसादयेत्' १५६
पूर्ति
शस्त्रक्रिया १५८

मरुकुंज

१

उद्देश्य

प्रकृतिका नियम तो यह मालूम होता है कि मनुष्य अपने जीवनका आरम्भ नीरोग दशामें करे। पैदा होते ही तन्दुरुस्तीका खयाल रखनेकी ज़िम्मेदारी मनुष्यके सिर आ पडती है। इस काममें मनुष्य जिस हद तक असफल रहता है, उसी हद तक वह बीमारीका शिकार बनता है। दूसरे शब्दोंमें, सब तरहके रोगोंकी पूरी-पूरी रुकावट से ही तन्दुरुस्तीकी हिफाजत होती है। लेकिन अनगिनत आदमी ऐसे हैं, जो कई तरहकी अपनी और पराई मजबूरियोंके कारण इस आदर्श स्थितिसे वञ्चित रह जाते हैं।

शरीरमें जो अनेक रोग बार-बार पैदा होते हैं, उन सब रोगोंमें निराला एक रोग है, जो राजरोग या क्षयरोग कहलाता है। यह रोग बहुत पुराने ज़मानेसे दुनियाकी सभ्य जनताके पीछे पडा है, और आज भी इसका बडा ज़ोर है।

राजरोग मनुष्यके तन, मन और धनका शोषण करनेवाला और एक लम्बे अर्से तक दिलमें आशा-निराशाकी लहरें पैदा कर आदमीको थकानेवाला रोग साबित हुआ है। इसका नाम सुनते ही लोगोंकी आँखोंके सामने अँधेरा छा जाता है।

लेकिन दरअसल हालत मृगजलकी तरह एकदम निराशा-जनक नहीं है। आयुर्वेद या वैद्यकमें ऐसा कोई रामबाण व चिन्तामणि उपाय नहीं है, जो इस रोगको मिटा सके; फिर भी इसका रोगी हमेशा अभागा ही नहीं माना गया है, न यह रोग

सदा सबके लिये जमदूत ही साबित हुआ है। कुछ खास हालतोंमें इस विचित्र व्याधिकी ज्वालासे छूटकर फिरसे ज़िन्दगी की नई रोशनी देखनेका मौक़ा मिलता है। कई आदमी इस बीमारी पर विजय पाकर फिर दुनियामें अपना काम-धन्धा करते नज़र आते हैं।

तपेदिकके इलाजमें दवाका उपयोग बहुत ही कम, नाम-मात्रको ही, होता है; असल चीज़ 'आहार-विहार' की योजना है; बीमारको अपने लिये एक नई और हितकारी दिनचर्या बना लेनी पडती है। बीमारीसे छुटकारा पानेके लिये स्वावलम्बनकी जितनी ज़रूरत इस रोगमें है, उतनी दूसरे किसी रोगमें शायद ही हो!

चूँकि इस बीमारीमें इलाजकी सफलताका सारा दारोमदार रोगीकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति पर रहता है, इसलिये रोगीको रोगके स्वरूपसे अनजान रखनेमें उसका नुकसान ही है। जब क्षयके सम्बन्धमें कोई शंका न रह जाय, और रोगका ठीकसे निदान हो जाय, तो रोगीको बडी सावधानीके साथ इसकी सूचना दे देनी चाहिये। चूँकि कुछ हालतोंमें इस रोगका सफल इलाज हो सकता है, इसलिये रोगीको रोगके स्वरूपका ज्ञान कराते समय वास्तविक सान्त्वना भी दी जा सकती है, और अगर कभी रोगके समाचारसे उसे आघात भी पहुँचता है, तो वह बहुत-कुछ क्षणिक ही होता है। जीवनमें ज़बरदस्त सदमा पहुँचानेवाली कई घटनायें घट जाती हैं; कुछ समयके लिये वे मनको मथ डालती हैं, और फिर याददास्त-का एक विषय बनकर मनके किसी कोनेमें चुपचाप पडी रहती हैं। चोट हमेशा ताज़ी नहीं रहती। जो रोगी अपनी सच्ची हालतको जानकर उसे सह नहीं सकता, उसे अँधेरेमें रखकर भी क्षयसे बचा लेना मुमकिन नहीं होता। यह बहुत ज़रूरी है कि

रोगीको अपने रोगका भान हो और उससे बचनेके तरीकोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो। बिना इसके रोगीके जीवन-प्रवाहमें आई हुई रुकावट दूर नहीं होती।

इस बारेमें फाउलरकी बात ध्यानमें रखने लायक है:

"मूर्ख (आदमी) फेफड़ोंके क्षयसे कभी भी मुक्त नहीं होता। साहित्य, विज्ञान या कलाके बारेमें वह भले ही मूर्ख न हो, उसके रोगकी विकृति कैसी भी अवस्थामें क्यो न हो, अथवा रोगके सभी लक्षण चाहे जैसे क्यों न हों, अगर वह अपना हित नहीं समझता है, तो उसका नाश निश्चित है। लेकिन अगर रोगी यह जान ले, कि उसका सारा भविष्य सकटमें है, और फिरसे नीरोग होनेके लिये वह हर तरहका त्याग करे, तो तन्दुरुस्त हो सकनेकी हालत न रहते हुए भी, उसके लिये आशा रहती है।"

२

चेतनरज और क्षय

जब सूरजकी किरणें किसी छोटे छेदकी राह घरमें आती हैं, तो कभी-कभी उनके उजेलेमें अनगिनत रजकण उडते नज़र आते हैं। ये रजकण सिर्फ़ उसी जगह नहीं होते, बल्कि सारा वातावरण इनसे भरा रहता है। चूँकि ये बहुत ही सूक्ष्म होते हैं, इसलिये आमतौर पर दिखाई नहीं पडते, और न स्पर्श द्वारा ही जाने जाते हैं। ये रजकण जड अर्थात् निर्जीव होते हैं। ऐसे, और इनसे भी बहुत ही सूक्ष्म — इतने सूक्ष्म कि बिना ख़ुर्दबीन या अणुवीक्षण यन्त्रके खाली आँखों नज़र न आनेवाले — भिन्न-भिन्न प्रकारके अनगिनत सजीव चेतनरज सृष्टिमें मौजूद हैं। अंग्रेज़ीमें ये 'बैक्टेरिया' कहलाते हैं। ये ज़मीन, हवा और पानीमें हर जगह कम या ज़्यादा तादादमें फैले रहते हैं; ये आदमीके शरीर पर और उसके शरीरके अंदर भी पाये जाते हैं। सृष्टिकी विविध वस्तुओंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये ये ज़रूरी हैं; इनके बिना सृष्टिका बहुतेरा व्यवहार रुक सकता है। दूधसे जो दही बनता है, उसमें भी ये सूक्ष्म चेतनरज निमित्तरूप होते हैं।

चेतनरजके कई प्रकार ऐसे हैं, जो सूक्ष्मदर्शक यंत्रकी मददसे पहचाने जाते हैं। उनमें कुछ ही ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्यकी देहमें पैदा होनेवाले रोगोंके साथ पाया जाता है। जिस रजसे रोग पैदा होते हैं, वह इतना प्रबल नहीं होता कि हमेशा सब शरीरोंमें रोग पैदा कर सके।

जिस राज्यका प्रबंध अच्छा होता है, उसमें राज्यके अधिकारियोंकी जानकारीके विना बाहरका कोई व्यक्ति आ ही नहीं सकता; अगर कोई आ भी घुसे, तो उसे अपने कब्ज़ेमें रखनेका पूरा बन्दोबस्त वहाँ रहता ही है; और अगर कोई लुक-छिपकर रह भी जाय, तो वह राज्यके तेजसे इतना चौंधिया जाता है कि कोई गड़बड़ नहीं मचाता और अपने आप अपनी कमज़ोरी जान जाता है। मनुष्यके शरीरकी रचना भी ऐसी ही है। शरीर किसी भी तरह के विजातीय द्रव्यको एक क्षणके लिये भी बरदाश्त नहीं करता। एक छोटा-सा काँटा या कंकर भी कहीं चुभ जाता है, तो वह खटकता रहता है और उसे बाहर निकालनेकी कोशिश फौरन शुरू हो जाती है। चेतनरजके लिये भी यही नियम लागू होता है। साँसके साथ जानेवाली हवामें मिलकर अगर कोई रजकण नाककी राह सीधा शरीरमें चला जाता है, अथवा अन्न या जलके साथ या और किसी तरीक़ेसे अन्दर घुस जाता है, तो शरीरका रक्त और रस मिलकर उसे नष्ट कर डालते हैं। ये चेतनरज हर रोज़ मनुष्यके शरीरमें घुसते हैं, और रोज़ शरीरके अदर इनका सहार होता रहता है, हालाँकि मनुष्यको इसका कोई पता नहीं चलता। रात-दिन चलनेवाले इस सहारके सपाटेमें यदि कोई चेतनरज आनेसे बच जाता है, तो वह शरीरके अंदर बिलकुल निर्बल बनकर पड़ा रहता है। टाइफॉइड, मेनिनजाइटिस, डिप्थेरिया, न्यूमोनिया-जैसी खतरनाक बीमारियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले चेतनरज या कीटाणु कइयोंके शरीरमें पाये जाते हैं, फिर भी वे तन्दुरुस्त और रोगसे बिलकुल अलिप्त पाये गये हैं।

जबतक शरीरकी जीवनीशक्ति (vitality) अतिशयता, श्रम, सर्दी, सील, उपवास, भूख, अनुचित खान-पान, जख्म, चोट, और

वातावरणमे होनेवाले आकस्मिक हेरफेर वगैराके कारणसे घटती या कमज़ोर नही पडती, तबतक शरीरके अन्दर रोगोत्पादक कीटाणु न तो प्रबल हो सकते हैं, न शरीरमें अपना विस्तार बढ़ा सकते हैं, और न शरीरको रोगयुक्त बना सकते हैं। "यह तय है कि क़रीब-क़रीब हर तरह के चेतनरजसे — क्षयके रजसे भी — अलिप्त रहनेकी शक्ति मनुष्यके अदर काफी मात्रामें पाई जाती है।" (रोज और कार्लेस)। अगर यह अनोखी व्यवस्था न होती, तो चेतनरजकी संख्या और उसकी उत्पादक शक्ति इतनी ज्यादा है, कि अबतक मानवजातिका नाश कभीसे हो चुका होता।

जब कभी किसी-न-किसी कारणसे मनुष्यकी जीवनीशक्ति कमज़ोर हो जाती है, और किसी खतरनाक रोगको पैदा करनेवाला कोई रज शरीरमें घुसकर बढ़ने लगता है, तब वहा उसका ज़ोर बढ़ता है और वह बीमारी पैदा करता है। आमतौर पर बीमारी पैदा होनेका यही क्रम है, लेकिन यह क्षयरजको लागू नहीं होता। क्षयके कीटाणु दूसरे रोगजनक कीटाणुओंके मुकाबले एक तरह कमज़ोर-से होते हैं। उनकी वंशवृद्धि धीमी होती है, और वह लगातार नहीं होती। जब वे शरीरके तंतु तक पहुँचते हैं, तो उनके और तंतुओंके बीच ज़ोरकी लडाई ठन जाती है; अगर इस लडाईमें रोगके कीटाणुओका नाश नहीं होता, तो उनके इर्द-गिर्द कुछ गाँठें या ग्रन्थियाँ (tubercles=ट्यूबर्कल्स) बन जाती हैं। ऐसी अनेक ग्रंथियाँ बनती हैं। वे शरीर पर होनेवाली फुंसियोके समान होती हैं, और उनका विकास भी फुंसियोके जैसा होता है। लेकिन इन ग्रन्थियोंका विपाक बहुत ही धीमा होता है; इनके पकने और नरम पडनेमें बहुत समय लगता है, बरसोका समय भी लग जाता है। कइयोके शरीरमें इनके पकने या नरम पडनेका मौका

सारी ज़िन्दगीमें कभी आता ही नहीं, फलत. न इनका ज़हर शरीरके अन्दर फैलता है, और न आदमी क्षयरोगसे बीमार पड़ता है। बहुतोंके शरीरमें क्षयकी ग्रंथियाँ तो होती हैं, लेकिन उनका थोड़ा भी प्रभाव उनके जीवन पर पड़ता नज़र नहीं आता।

क्षयग्रंथियाँ शरीरके अनेक हिस्सोंमें पैदा होती हैं; लेकिन खास तौर पर वे फेफड़ोंमें बनती हैं, और इसलिये क्षयकी चर्चासे विशेषकर फेफड़ोंका क्षय ही सूचित होता है।

क्षयरजका प्रवेश तो, देरमें या जल्दी, प्राय सभीके शरीरमें हो जाता है, और क्षयग्रंथियाँ भी बन जाती हैं, फिर भी सबके सब क्षयसे बीमार नहीं होते। क्षयरजकी छूत बहुतोंको लगती है, लेकिन क्षय'रोग' बहुत थोड़ोंको होता है। जहाँ-जहाँ 'छूत' है, वहाँ-वहाँ 'रोग' नहीं, 'छूत और 'रोग' पर्यायवाची नहीं हैं — ये दो बिलकुल अलग चीज़ें हैं। विंगफिल्ड लिखता है : "ध्यान रहे कि क्षयकी छूत सर्वव्यापक है", और "किसीको क्षयरजकी छूत लगनेका यह मतलब तो हरगिज नहीं होता कि वह आदमी उसी समय क्षयसे पीड़ित भी हो।"

क्षयरोगके सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ ट्रुडोका प्रयोग इस सम्बन्धमें बड़ा अर्थसूचक है। उसने कुछ तन्दुरुस्त खरगोश इकट्ठा किये और हरएक खरगोशमें एक ही किस्मके क्षयके कीटाणु बराबर-बराबर तादादमें दाखिल करनेके बाद उनमेंसे कुछको सीलवाली, अँधेरी, और हवा व उजेलेसे खाली जगहमें बन्द किया, और दूसरे कुछ खरगोशोंको खुली, उजेलेवाली, हवादार और बिना सीलवाली जगहमें छोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि पहली टुकड़ीवाले खरगोश क्षयसे बीमार पड़े और सभी झटपट मर गये, दूसरी टुकड़ीवालोंमेंसे कुछको कुछ भी नहीं हुआ, और कुछ पर रोगका असर नाममात्रका

दिखाई पड़ा। इस तरह उसने यह साबित कर दिया कि क्षय 'रोग'के उत्पन्न होनेमें प्रतिकूल परिस्थितिका ही हाथ ज्यादा होता है। अब हम यह सोचेंगे कि किस तरहकी प्रतिकूल परिस्थितिसे मनुष्य-जातिमें क्षयरोग पैदा होता है।

३

क्षयके उत्पादक कारण

पिछले परिच्छेदमें हम यह देख चुके हैं कि क्षय रोगसे सम्बन्ध रखनेवाले चेतनरजके कारण बहुतोंके शरीरमें आगे-पीछे क्षय ग्रंथियोंका निर्माण होता है; यानी बहुतोंको क्षयकी छूत लगती है, लेकिन वे सब क्षयकी 'बीमारी'के शिकार नहीं होते। क्षयकी 'छूत' और क्षयकी 'बीमारी' ये दो बिलकुल अलग परिस्थितिके सूचक शब्द हैं। क्रोज़ कहता है कि क्षयकी 'छूत' तो आदमीकी तकदीरमें लिखी ही है, उसकी चिन्तामें घुलनेकी शायद ही कोई ज़रूरत हो।

किसीके शरीरमें क्षयके कीटाणु कब घुसते या पैदा होते हैं, यह सब कैसे होता है, ग्रंथियाँ कब बनती हैं, वगैरा सवालोंका जवाब देना लगभग असम्भव है। ये सारी क्रियायें अनजाने हुआ करती हैं — इन्सानको इनका पता नहीं चलता। अलग-अलग देशोंमें बरसोंसे इस बातकी कोशिश चल रही है, कि लोगोंको क्षयकी 'छूत' भी न लगे, लेकिन जैसा कि फिशबर्ग कहता है, यह हल-चल बिलकुल असफल साबित हुई है। इसलिये अब छूतको रोकनेके बजाय रोगको पैदा होनेसे रोकनेकी ओर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। मनुष्यके शरीरमें अनेक तरहकी क्रियायें पल-पलमें होती रहती हैं, लेकिन मनुष्य उनकी चिन्ता शायद ही कभी करता है, इनमेंसे कई क्रियाओंका तो उसे खयाल तक नहीं रहता। मनुष्यकी एकमात्र इच्छा यही रहती है कि उसके शरीरमें कोई बीमारी पैदा न हो।

क्षयरजकी छूत लगनेका मतलब होता है, शरीरके अन्दर क्षय-ग्रंथियोंका उत्पन्न होना, लेकिन ग्रंथियोंके रहते हुए भी रोग पैदा नहीं होता। जब ये गाँठें नरम पड़ती हैं और इनके अन्दरका ज़हर शरीरमें फैलता है, तभी क्षयरोग पैदा होने लगता है। गाँठोंके नरम होनेका मतलब है, रोगका जन्म होना, दूसरे शब्दोंमें जिन कारणोंसे ये गाँठें नरम पड़ती हैं, उन्हीं कारणोंसे रोग पैदा होता है, और उन कारणोंको दूर करनेमें ही क्षयरोगका सच्चा निवारण है।

क्षयकी उत्पत्तिके छोटे-मोटे अनेक कारण हैं; लेकिन उन सबका समावेश दो शब्दोंमें किया जा सकता है: 'प्रतिकूल परिस्थिति'। यहाँ इस विषयका विचार करनेसे पहले इस बीमारीके बारेमें जो धारणायें परंपरासे चली आई हैं, उनका विचार कर लेना ठीक होगा।

अभी तक कोई बालक जन्मसे ही क्षयी पाया नहीं गया। अनुभवियोंका यह खयाल भी नहीं है कि जीवनके पहले सालमें शरीरके अंदर क्षय ग्रंथियाँ बनती हों। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ग्रंथियोंके बननेकी संभावना भी बढ़ती जाती है। ये ग्रंथियाँ क्षयरोगीकी सन्तानमें औरोंके मुक़ाबले जल्दी बनती हैं या नहीं, इसके बारेमें निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। हाँ, यह अच्छी तरह देखा गया है कि जब क्षयरोगवाले परिवारमें किसी व्यक्तिको और क्षयरोगसे अछूते परिवारके किसी आदमीको क्षय होता है, तो उन दोनोंके फिरसे तन्दुरुस्त होने-न-होनेकी संभावना क़रीब-क़रीब एक-सी ही रहती है; व्यक्तिके पुरखोंका इतिहास उसमें बहुत ही कम दखल देता है। जो बच्चे तपेदिकके रोगियोंकी औलाद हैं, अथवा जिन बच्चोंके क्षयसे पीड़ित होनेका अंदेशा

है, फ्रान्समें उनके लिये देहाती जीवनका प्रवन्ध किया जाता है। नतीजा इसका यह हुआ है कि इस तरह देहातमें रक्खे गये २,३०० वालकोंमेंसे सिर्फ ७ क्षयके शिकार बने। इसलिये यह मान लेने पर भी कि लोगोंकी परम्परागत धारणामें थोडी-बहुत भी सचाई है, इसमें सन्देह नहीं कि यदि आरम्भ ही से बालकको नीरोग रखनेकी पूरी सावधानी बरती जाय और उचित उपायोंसे काम लिया जाय, तो क्षय रोगियोंकी सन्तान क्षयसे बचाई जा सकती है। यह तो स्पष्ट है कि इस सबंधमें गुरुत्वाकर्षणके नियमकी तरह, अथवा आमका आम ही पैदा होता है, इस नियमकी तरह, कोई निरपवाद नियम प्रचलित नहीं है, क्षयरोगीकी सन्तानको क्षय होना ही चाहिये, अथवा उसे क्षय होनेकी विशेष सभावना है, इस विचारको मनमें स्थान देना भी एक तरहकी अतिशयता है। मनुष्यके स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वोंमेंसे कितने और कौन-कौनसे तत्त्व, किस परिमाणमें और किस तरह, बीज द्वारा उत्पन्न होनेवाली संतानमें प्रकट होते हैं, इस सम्बन्धका हमारा ज्ञान अभी अधूरा है। जो तत्त्व परम्परागत प्रतीत होते हैं, व्यक्तिके जीवनमें वे भी बदले हुए नजर आते हैं। रोगके परपरागत होने-न-होनेका विचार करके अन्तमें फाउलर लिखता है: "फेफडोंका क्षय उत्पन्न होनेमें परपरा या विरासतका हाथ कहाँ तक है, इस पर न्याय-पूर्वक कुछ कहनेका यत्न करना निरर्थक ही है।"

अब हम परिस्थितिका विचार करेंगे।

परिस्थितिका विचार करनेका मतलब है, मनुष्यके समूचे जीवनका अवलोकन करना। सरल और नीरोग जीवन वितानेके लिये मनुष्यको कुछ संयोगोंकी आवश्यकता रहती है; जिनके अभावमें उसे कई तरहके विघ्नोंका सामना करना पडता है। रहनेके लिये

अच्छा उपजाऊ प्रदेश और आरामके लिये घरकी ज़रूरत है; गर्मी, सर्दी और वर्षासे शरीरकी रक्षाके लिये कपड़े आवश्यक हैं; शरीरके पोषण और निर्वाहके लिये अन्न, जल और उपयोगी प्रवृत्तियाँ ज़रूरी हैं; फिर मनकी प्रसन्नता, वेफिकरी, मनोनुकूल घरगृहस्थी, व अनुकूल सामाजिक जीवन की भी मनुष्यको जरूरत रहती है। और इनमेंसे वहुत-कुछ प्राप्त करनेके लिये उसको पर्याप्त साधन-सम्पत्तिकी भी आवश्यकता होती है। जहाँ साधन-सामग्रीकी कमी है और ग़रीवी है, वहाँ इनमेंसे अनेक चीज़ोंका कमोवेश अभाव रहता है, और इस सवका थोड़ा-वहुत असर शरीरके गठन पर भी पड़ता ही है; शरीरकी जीवनीशक्तिका ह्रास होता है और फलतः क्षयरोगके समान रोगोंके पैदा होनेकी नौवत आती है। गरीवीके कारण मनुष्यको कई तरहकी प्रतिकूल परिस्थितिमें रहना पडता है; वह साफ हवा, पौष्टिक आहार, और हवा-उजेलेवाले घर वग़ैराकी तंगीका अनुभव करता है; सामाजिक जीवनकी रचनाके कारण जव उसे खुलेमें रहनेको नहीं मिलता, तो विवश होकर घनी वस्तीके वीच रहने और घनी आवादीवाली जगहमें काम करना पड़ता है। चूँकि मनुष्य भावनाप्रधान और वुद्धिमान है, इसलिये उसे सकारण भी और अकारण भी कई तरहके हलके-भारी आघात सहन करने और चिन्तामें डूवनेके अवसर प्राप्त होते रहते हैं। इन्हीं सव कारणोंसे उसके जीवनमें अक्सर भले-वुरे प्रकारकी अतिशयताको स्थान मिलता रहता है। यह परिस्थिति मनुष्यमें क्षयरोगको जगानेके कारण पैदा कर देती है।

क्षयरोगके पैदा होनेमें जो वातें अकसर निमित्तरूप वनती हैं, उनमें कुछ ये हैं: छाती या सीनेकी सदोष रचना; स्त्रियोंका वार-वार गर्भधारण करना और वच्चोंको जन्म देना, तन्दुरुस्तीको नुकसान

पहुँचानेवाले रोजगार–धन्धे, शराबखोरी; कुकुर खाँसी-जैसी खाँसी और चेचक-जैसे रोग, इन्फ्लूएन्ज़ा और न्यूमोनिया-जैसे सर्दीके रोग, कड़ी या खतरनाक चोटें; अतिश्रम, अतिचिन्ता, शरीर और मनका शक्तिसे परे असाधारण उपयोग; जीवनके लिये ज़रूरी चीज़ोंका क़ायमी अभाव। "क्षयकी उत्पत्तिके प्रधान तत्त्वोंमें लोगोंकी आदतें, आर्थिक स्थिति और रहने व खानेका प्रबन्ध मुख्य है। ये सारे तत्त्व एक-दूसरेसे इतने उलझे और गुँथे हुए हैं कि इनमेंसे हरएकका महत्त्व अलग-अलग आँकना कठिन है,— इस संबधमें सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ग़रीबी के बदले खुशहाली बढ़े, युद्धकी जगह शान्ति स्थापित हो, और शराबखोरी रुके, तो क्षयसे होनेवाली मृत्युसंख्यामें स्पष्ट ही कमी देखी जा सकती है" (बाल्डविन)। यह भी साफ़ है कि ऊपर जिन कारणोंकी चर्चा की गई है, उनमेंसे कितने किस प्रमाणमें खड़े हों, तो क्षय पैदा हो, इसका गणितके नियमकी तरह कोई खास नियम नहीं हो सकता। इनमेंसे किस कारणका मनुष्य पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसका सारा दारोमदार उसकी जीवनीशक्ति पर है। सबकी जीवनशक्ति एक-सी नहीं होती; उसका कोई माप भी नहीं निकाला जा सकता। इस सबधमें इतना ही कहा जा सकता है कि जब शरीर और मनकी अतिशय अशान्तिके कारण शक्तिका पलड़ा बराबर ऊँचा और प्रतिकूल परिस्थितिका नीचा रहने लगता है, तब इस रोगके प्रकट होनेकी संभावना बहुत-कुछ बढ़ जाती है।

४

क्षयके प्रकार

पिछले दो परिच्छेदोंमें हम यह देख चुके हैं कि जब क्षयरज शरीरमें प्रवेश करता है, तभी वहाँ क्षयग्रंथियाँ बनती हैं। लेकिन क्षयग्रंथियोंके बननेमात्रसे क्षयरोग पैदा नहीं होता। अधिकांश मनुष्योंकी देहमें ये ग्रंथियाँ पाई जाती हैं, लेकिन इनका उनपर जीवनभर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिकूल परिस्थितियोंके कारण जब शरीरकी जीवनीशक्ति कम होती है, तो ये ग्रंथियाँ नरम पड़ जाती हैं, और इनमेंसे निकलनेवाला विष शरीरमें फैलने लगता है। इसका प्रभाव शरीरकी गठन पर कई तरहसे पड़ने लगता है, और तभी क्षयरोग पैदा होता है।

क्षयके दो प्रकार हैं: उग्र (acute=एक्यूट) और मन्द (chronic=क्रॉनिक)। उग्र रूप कभी-कभी पाया जाता है। वह इतना भीषण होता है, कि उससे बचनेकी बहुत कम आशा रह जाती है। जब गिद्ध अपने शिकार पर अचानक झपटता है, तो अकसर उस शिकारको साँस लेनेका भी मौका नहीं मिलता— बेचारा चटपट खत्म हो जाता है। उग्र क्षयकी यही तासीर है; जब वह प्रकट होता है, तो उससे पैदा होनेवाली सभी क्रियायें विनाशक होती हैं। आमतौर पर रोगके कारण शक्तिका जितना ह्रास होता है, उतनी ही नई शक्ति भी आती रहती है,— तोड़-फोड़के साथ अन्दर मरम्मत भी होती रहती है। क्षयके उग्र रूपमें मरम्मतकी कोई गुंजाइश नहीं। शक्तिके निरन्तर ह्रासके

कारण इस रोगके रोगीका जीवन कुछ हफ्तों या महीनोंमें समाप्त हो जाता है। उग्र क्षय किसे होता है, और वह किस प्रकार रोका जा सकता है, इसके विषयमें कुछ कहना सम्भव नहीं। मनुष्यका ज्ञान कितना ही क्यों न बढ़ जाय, फिर भी बहुतेरी चीजें अज्ञात ही रहेंगी, और जीवन पर होनेवाला उनका असर भी जाना न जा सकेगा।

उग्र क्षयकी तरह मन्द क्षय सदा सबके लिये घातक नहीं होता। उसके निवारणका प्रयत्न किया जा सकता है, और उसमें सफलता पानेकी पूरी आशा रहती है। पूरी आशाके रहते हुए भी यह रोग कोई मामूली रोग नहीं है, यह एक गंभीर रोग है। स्वरूप इसका बड़ा अटपटा है। प्रकट होने पर भी इसका असर झटपट मालूम नहीं होता, यह बीमार और डॉक्टर तक को धोखेमें रखता है।

सरहदी सूबोंके पास बसनेवाली विदेशी जातियाँ जिस तरह अचानक हमला करती हैं, फिर अचानक रुक जाती हैं, और यों, लोगोंके अन्दर निर्भयताका एक खयाल पैदा करती हैं, ठीक वही हाल इस बीमारीका है। इसकी विक्रिया शुरू हो जानेके बाद भी बराबर चालू नहीं रहती; कुछ देरके लिये दिखाई पड़ती है, फिर कुछ देरको बन्द हो जाती है; बीमारको गफलतमें रखकर यह उस पर हमला करती है। इसका सचार गुप्त और इसकी गति मन्द होती है; इसलिये बीमार इसकी गंभीरताको झट समझ नहीं पाता, कोई अनुभवी समझाता भी है, तो अकसर बात गले नहीं उतरती। शुरूमें, जब शक्तिका ह्रास कुछ कम होता है, जैसी सावधानी रक्खी जानी चाहिये, रक्खी नहीं जाती, और रोग पर काबू पानेका जो अपूर्व और अनुकूल समय होता है, वह हाथसे निकल जाता है।

यह रोग जितना गम्भीर है, इसको वशमें करनेका उपाय भी उतना ही सरल व सादा है। इसीलिये उपायकी उपयोगिता और उसकी अनिवार्यता ध्यानमें नहीं आती। इन और ऐसे ही अन्य कारणोंसे जबतक रोग साध्य स्थितिमें होता है, तबतक असावधानीका बोलबाला रहता है। जब वह असाध्य स्थितिमें जाने लगता है, तब रोगी और उसके रिश्तेदार रोगकी रुकावटके लिये तनतोड़ मेहनत करनेको कमर कसते हैं। स्पष्ट ही यह तरीका उलटा और घातक है। इसमें पैसेका खर्च तो बहुत होता ही है, लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें प्राण-हानिकी संभावनाका पोषण होता है। ज्योंही पता चले कि रोग पैदा हो गया है, उस पर विजय पानेकी चेष्टाको जीवनकी दूसरी सब चेष्टाओंसे प्रधान बना देना चाहिये। इससे समय कम खर्च होता है, पैसा कम लगता है, और काफी लम्बी उम्र तक जीनेकी बहुत-कुछ संभावना रहती है।

५

क्षयके लक्षण

क्षयके दो तरहके लक्षण हैं: एक, ग्रंथियोंके घुलनेसे फेफड़ोंमें जो परिवर्तन होता है, उसके कारण पैदा होनेवाले आन्तरिक लक्षण, और शरीरमें प्रकट होनेवाले दूसरे प्रकारके—खाँसी, बुखार वगैरा-जैसे—बाहरी लक्षण। इन दो तरहके लक्षणोंका समन्वय या मिलान करके क्षयरोगके होने-न होनेका निर्णय किया जाता है। इन दो में बाहरी आसार या लक्षण खास महत्त्वके हैं, क्योंकि क्षयरोगके जाग्रत या सुप्त होनेका निर्णय इन्हींके होने-न होने परसे किया जाता है। जिस रोगीमे ये लक्षण कम होते हैं, अथवा ज्यादा होते हुये भी जल्दी वशमें आते हैं, वह थोड़ा-बहुत काम-धंधा शुरू करनेकी लियाकत जल्दी पा लेता है। जब बाहरी लक्षण मिट जाते हैं, रोगीकी ताकत बढ़ती जाती है, और वह काम-काज करने लगता है, तब भी आन्तरिक लक्षण बिलकुल नाबूद नही होते। इसकी कोई निश्चित अवधि भी नहीं है, आगे-पीछे, वर्षों बाद भी, वे अदृश्य हो सकते हैं, शायद न भी हों, और ज़िन्दगी भर बने रहें, इस संबधमे विश्वासपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु जब एक बार नष्ट होनेके बाद बाहरी लक्षण फिर प्रकट नहीं होते, ताकत बनी रहती है, और बढ़ती जाती है, तो बीमारको आन्तरिक लक्षणोंके लिये चिन्तित रहनेकी ज़रूरत नहीं रहती। वे अपने आप चींटीकी चालसे अदृश्य होते जाते हैं।

आन्तरिक लक्षण अनुमान द्वारा इस प्रकार जाने जाते हैं: पहले छाती और पीठकी जॉच की जाती है; शरीरके इन दोनों हिस्सों पर जगह-जगह हाथ रखकर यह देख लिया जाता है कि श्वासोच्छ्वासकी कियामें कहाँ-कहाँ विषमता मालूम होती है। इसके बाद छाती और पीठके जुदा-जुदा हिस्सोंपर एक हाथकी बीचवाली तीन अँगुलियाँ जरा खुली-सी रक्खी जाती हैं, और दूसरे हाथकी बीचवाली अँगुलीसे पहले हाथकी बीचवाली अँगुलीको ठोका जाता है, और इससे जो आवाज़ पैदा होती है, वह ध्यानमें रक्खी जाती है। नीरोग छाती पर ठोकनेसे होनेवाली आवाज एक प्रकारकी होती है, और जब छातीमें कोई खराबी पैदा हो रही होती है, या हो चुकती है, तो दूसरी तरहकी आवाज़ निकलती है, दोनोंमें फर्क होता है। पोली चीज़ पर प्रहार करनेसे जो आवाज पैदा होती है, ठोस चीज़को ठोकनेसे, उससे बिलकुल भिन्न, एक दूसरी ही आवाज़ निकलती है — यह देखी-परखी बात है। जब किसी विक्रिया या खराबीके कारण छातीके नीचेका फेफड़ेवाला भाग घना या ठस हो जाता है, तो उसे ठोकनेसे जो आवाज़ निकलती है, वह निर्दोष या नीरोग भागवाली आवाज़से भिन्न होती है। इस तरह ठोक-ठोक कर ठोस और पोले भागकी जाँच कर लेनेके बाद साँस और उसाँस लेते समय फेफड़ोंसे जो आवाज़ सुनाई पड़ती है, उसका ख़याल रक्खा जाता है। फेफड़ोंमें साफ़ हवा बाहरसे अन्दर जाती है और अन्दरकी मैली हवा बाहर निकलती है। यह दोहरी क्रिया जन्मसे लेकर मृत्यु तक बराबर चलती रहती है, जिससे फेफड़ोंमें खास तरहकी बारीक आवाज होती रहती है। जब फेफड़ोंको सर्दी लगती है, उनमें सूजन आ जाती है, या क्षयग्रंथियाँ घुलने लगती हैं, अथवा दूसरी कोई खराबी शुरू होने लगती है, तब यह आवाज़ बदल

जाती है। डॉक्टर लोग एक नलीकी मददसे इस आवाज़को सुनते हैं, और सुनकर जैसी वह होती है, उस परसे फेफड़ोंकी खराबीका अन्दाज़ लगाते हैं।

आमतौर पर लोगोंका खयाल यह है कि क्षयकी तीन अवस्थायें (stages) होती हैं, और उनका निर्णय खासकर छातीमें सुनाई पड़नेवाली आवाज परसे किया जता है। अवस्थाका यह विचार अकसर आदमीको अकारण ही घबराहटमें डाल देता है। फेफड़ोकी सभी ग्रंथियाँ एक साथ एक अवस्थामें नहीं होतीं, और ग्रथियोंकी अवस्था या हालत परसे रोगके स्वरूपका विचार नहीं किया जा सकता। अकसर होता यह है कि दरअसल बीमार तीसरी स्टेजमे रहता है, लेकिन उसकी हालत पहली या दूसरी स्टेजवाले बीमारसे अच्छी रहती है, और उसके स्वस्थ होनेकी सभावना भी अधिक रहती है। बीमारके स्वस्थ होने-न होनेका आधार ग्रथियोकी अवस्था पर उतना नहीं होता, जितना रोगीकी शारीरिक स्थिति पर, उसकी जीवनीशक्ति पर और इस बात पर होता है कि रोगका विष कितना और कैसा है, व फेफड़ोंमें रोग-ग्रस्त भागकी अपेक्षा रोग रहित भाग कितना है।

क्षयके बाहरी लक्षण अनेक हैं। वे सबके सब हरएक बीमारमें हमेशा ही, शुरूमे, और एक ही क्रममें नहीं होते। किसी बीमारमें एक, तो किसीमें दूसरा कोई लक्षण मुख्य होता है, बाकीके गौण होते हैं, और कुछ तो प्रकट भी नहीं होते। किसीको खाँसीका ज़ोर ज्यादा होता है, तो किसीको बलग़मकी शिकायत होती है, किसीका हाज़मा ज्यादा खराब रहता है, तो किसीको साँस-उसाँस लेनेकी क्रियामें तकलीफ ज्यादा होती है।

वैसे, क्षय कई रूपोंमें प्रकट होता है, लेकिन उसका सबसे ज्यादा प्रचलित रूप शरीरको धीमे-धीमे गलाने या सुखानेका है। शुरूमें आदमी थकावटका अनुभव करने लगता है; कभी-कभी रोज़मर्राका मामूली काम पूरा करनेमें पहलेसे ज्यादा थकान मालूम होने लगती है; अथवा पहले जिस कामको करनेमें थकावट नहीं मालूम होती थी, अब उसीको करनेमें आदमी थकने लगता है; कभी-कभी काम करनेका दिल नहीं होता, जी उचटा-उचटा-सा रहने लगता है; कभी कुछ काम-धन्धा न करने पर भी अकारण ही थकावट-सी मालूम होने लगती है; कभी-कभी बिला वजह मनमें बेचैनी-सी छा जाती है; स्वभाव बदल जाता है; दिल बैठा-बैठा-सा नजर आता है। इस तरह शरीर और मन पर एक अजीब-सा असर पड़ता नजर आता है; और यों क्षयका सिलसिला शुरू होता है।

आदमी जल्दी-जल्दी थकने लगता है; अन्न-विषयक उसकी रुचि और भूख कम हो जाती है; पाचनशक्ति मंद पड जाती है, कलेजेमें जलन रहने लगती है; पेटमें हवा रुक जाती है, दर्द रहने लगता है; कब्ज वगैराकी शिकायत शुरू हो जाती है, वज़न आस्ते-आस्ते कम होता चलता है; धीमे-धीमे कमज़ोरी प्रकट होने लगती है, शरीर पीला—निस्तेज—पडने लगता है; मुँह पर रक्तका संचार एकदम बढ जाता है, आवाज बार-बार खरखरी हो उठती है; खाँसकर या खॅखारकर गला साफ करनेकी ज़रूरत रहने लगती है; थोडी-बहुत खाँसी भी रहती है; बलगम गिरने लगता है; नाड़ीकी गति बढ़ जाती है; ख़ूनका दबाव कम हो जाता है; हाथ-पैरोंमें जलन-सी होने लगती है; और रातमें, खासकर पिछली रातमें, पसीना छूटता है; कन्धोंमें और छातीमें दर्द रहने लगता

है, साँस जल्दी-जल्दी फूलने लगती है, बदनमे बारीक-सा बुखार, खासकर शामके समय, रहने लगता है। इन सब चिह्नोंमेंसे थोडे-बहुत रोगके शुरूमें बीमारके अंदर पाये जाते हैं।

कभी-कभी रोगका आरभ सर्दी या जुकामसे होता है। इन्सानको बार-बार जुकाम होने लगता है, एक बारका जुकाम मिटा-न-मिटा कि फिर जुकामका हमला हो जाता है; और अक्सर ढूँढने पर भी उसके कारणका पता नहीं चलता। इन्फ्लुएञ्जा, चेचक वगैरा गंभीर रोगोके बाद ताकत झटसे नहीं लौटती, इसी तरह किसी सगीन चोटसे बचनेके बाद भी पुरानी ताकत जल्दी नहीं आती और कमजोरी रहने लगती है.

कइयोंमें क्षयकी पहचान प्लुरिसीके रूपमें होती है। फेफडों पर दो नाजुक पर्तें बहुत नज़दीक-नज़दीक हैं; साँस-उसाँस लेते समय ये दोनो पर्तें एक दूसरी पर आती-जाती रहती हैं। जब इन पर्तोंमें सूजन आ जाती है, तो आपसमे ये रगड खाती हैं, जिससे पसलियोंसे एक टीस-सी उठती है। इसीको प्लुरिसी कहते हैं। दोनों पर्तों के बीचकी जगहमें कभी-कभी दूषित पानी भर जाता है, और कभी वहाँ पीब भी दिखाई पडता है। सूखी प्लुरिसीका कारण हमेशा क्षय ही नहीं होता, जुकाम या सर्दी-जैसे मामूली कारणसे भी वह हो जाती है। फिर भी एक बार जब यह हो जाती है, तो बरसों परेशान करती है, और कभी-कभी क्षयके रूपमें प्रकट होती है। आमतौर पर प्लुरिसीकी शिकायत पैदा होनेके बाद अधिक सावधानी रखनेकी जरूरत रहती है। और, जब दूषित पानी पैदा हो जाता है, तब तो प्लुरिसी अधिकतर क्षयजन्य ही होती है।

मुँहसे ख़ूनका गिरना क्षयके प्रकट हानेकी एक खास पहचान है। कभी-कभी ख़ूनके गिरनेका कारण वेहद मेहनत मालूम होती है; और कभी वैसा कोई कारण हाथ नहीं आता। ख़ून ज़्यादातर क्षयकी वजहसे ही गिरता है, इसलिये यह ज़रूरी है कि उसके गिरनेके दूसरे-दूसरे कारणोंकी कल्पना करके अपने आपको धोखेमें न रक्खा जाय।

क्षयके प्रकट होनेका निर्णय करनेमें वाहरी लक्षण सवसे ज़्यादा महत्त्वके माने जाते हैं, फिर भी अकसर वाहरी और भीतरी लक्षण जितने चाहियें, स्पष्ट नहीं होते, इसलिये निर्णय भी नि.शक रीतिसे नहीं हो पाता। ऐसे मौक़ों पर 'एक्स-रे' से ली गई फेफड़ोंकी तसवीर कभी-कभी उपयोगी साबित होती है। शरीरके अदर जो कुछ रहता है, वह आमतौर पर देखा नहीं जा सकता। लेकिन एक्स-रे-जैसी एक ख़ास तरहकी किरणसे कुछ चीज़ें देखी जा सकती हैं और उनकी तसवीर ली जा सकती है। इस तरह एक्स-रे द्वारा ली गई तसवीर अमुक समय पहलेके फेफड़ोंकी स्थितिको वतानेके लिये रेकॉर्ड या नोंधकी तरह भी उपयोगी होती है।

इसके सिवा, क्षयका निर्णय करनेमें कफके पृथक्करणकी भी मदद होती है। यदि कफके अंदर क्षयरजका पता चले, तो विलाशक यह कहा जा सकता है कि शरीरमें क्षयका संचार है, लेकिन रजके न मिलने मात्रसे यह नहीं कहा जा सकता कि शरीरमें क्षयका संचार नहीं है। जब वाहरी और भीतरी लक्षणोंसे क्षयकी जाग्रतिके विषयमें शका रहने लगती है, ऐसे समय अगर कफमें रजका पता चल जाय, तो क्षयकी जाग्रतिके वारेमें निश्चित निर्णय करना आसान हो जाता है। कफमें क्षयरजके रहते हुए भी वे ऐसे तो अजीव होते हैं कि ज़रा भी अपनी हस्तीका पता नहीं

चलने देते और न रोगीके बलग़ममें वे हमेशा होते ही हैं। इसलिये यह तय करनेसे पहले कि क्षयरज बिलकुल नहीं है, कभी-कभी कफका बार-बार पृथक्करण कराना ज़रूरी हो जाता है।

क्षयके लक्षणोंमे कई तो इतने सामान्य हैं कि उनके प्रकट होने पर यदि आदमी यह मान ले कि उसे क्षय ही हो गया है, तो वह जान-बूझकर दु ख मोल लेने-जैसी बात हो जाती है। इसी तरह यदि उनमेंसे कुछ लक्षण अकारण चालू रहें, और मामूली इलाजसे तुरन्त दूर न होने पर भी उनकी अवगणना की जाय, तो पछतावेका मौका आ सकता है। ऊपर दिये गये लक्षण प्रकट होने पर उनके सच्चे कारणका निश्चय करने और उनका इलाज करानेके लिये इस विषयके किसी जानकार, नि.स्वार्थ और अनुभवी व्यक्तिकी मदद लेनी चाहिये। वह बीमारसे उसकी बीमारीका सारा वर्णन सुनकर, उसके भीतरी और बाहरी लक्षणोंकी परीक्षा करके, दोनोंका मिलान करनेके बाद जो निर्णय करे, उसे मान लेनेमे हित है। यदि किसी कारणसे उसका निर्णय कबूल करने लायक न लगे, अथवा उसपर पूरा विश्वास न जमे, तो अपनेको जो लक्षण मालूम होते हैं उनकी अवगणना करके चुपचाप बैठे रहनेके बजाय दूसरे किसीकी मदद लेना और मनकी तसल्ली करा लेना ज़रूरी है। यहाँ यह बात खासतौर पर याद रखनी चाहिये कि यों क्षय कइयोंको होता है और वह अपने आप मिट जाता है। फिर भी जब एक दफा वह बाहर आ जाता है, तो उसपर काबू पानेका सारा दारोमदार समय रहते उसका ठीक-ठीक इलाज कराने पर ही है, जब बिला वजह बहुत ज्यादा ढिलाई होती है, तो रोगसे टक्कर लेनेमें बडी कठिनाई पैदा हो जाती है, उसपर फतह पानेमें बहुत वक्त लगता है और खर्च भी बहुत ज्यादा करना पडता

है । इस बीमारी-जैसी खर्चीली बीमारी शायद ही कोई हो । कुछ दिनों या कुछ हफ़्तोंमें इसका इलाज खत्म नहीं हो जाता; मामूली काम-काज करने लायक़ और पार उतरने लायक तबीयत तैयार करनेमें महीनो बीत जाते हैं, और कभी-कभी बरसोंकी गिनती गिननेका मौका आ जाता है; इस बीच कमाना-धमाना सब बंद हो जाता है, दूसरे काम-धन्धे भी छूट जाते हैं, और एक तरह संसारसे निवृत्त हो जाना पड़ता है । इस रोगसे बचनेके लिये मनुष्यको राज़ी या नाराजीसे ही क्यों न हो, संयमधर्मको अपनाना पड़ता है। और, उस धर्मको सहज बनानेके लिये यह ज़रूरी है कि आदमी शुरूसे ही बिना ज्यादा गहराईमें उतरे— निरर्थक ऊहापोहके चक्करमें फँसे — ठीक रास्ते चलना शुरू कर दे । इसीमें उसका हित है, शान्ति है और परिणाममें सुख है ।

६

क्षयका स्वरूप

नक्षत्रोंमें धूमकेतुकी तरह रोगोंमें क्षय रोग है। जो मामूली नियम दूसरे रोगों पर लागू होते हैं, वे क्षय पर लागू नहीं होते। न्यूमोनिया व टाइफॉइड वगैरा रोग शरीरमें वेगसे प्रकट होते हैं; उनका समय और स्थिति करीब-करीब निश्चित-सी होती है; और एक बार मिटनेके बाद अक्सर उनका कोई असर मरीज पर रह नहीं जाता। बीमार पहलेकी तरह ताकत बटोरकर फिर अपने काम-धन्धेमें लग जाता है और मिटे हुये रोगकी उसे फिरसे कोई चिन्ता नहीं रखनी पडती। क्षयकी हालत ठीक इसके खिलाफ होती है। उसकी उत्पत्ति अनिश्चित और ज्यादातर मन्द होती है। पूरी तरह प्रकट होने और पहचानमें आनेसे पहले कई बार उसका सूक्ष्म-सा प्रभाव कुछ समयके लिये नज़र आता है और फिर सुप्त हो जाता है; मनमें यह शक तक पैदा नहीं होता कि यह सब क्षयकी वजहसे है। कई उदाहरणोंमें क्षय इस तरह थोडा-बहुत जाग्रत होकर फिर सुप्त दशामें पडा रहता है। बादमें कभी-कभी वह जिन्दगी भर सिर नही उठाता, या इतना ज़ोर नहीं पकडता, कि तन्दुरुस्ती पर उसका कोई असर मालूम पडे। इस तरहका अनोखापन दूसरे किसी रोगमें शायद ही कभी नज़र आये।

आलसी या प्रमादी आदमीकी तरह क्षय जागता है, जागता है, और फिर सो जाता है। प्रमादी जीव या तो जागता ही नहीं है, और जागता है, तो तमोगुणके नशेमें सब कुछ उलट-पुलट डालता

है, और जो सामने आ जाता है, उसको बुरी तरह रौंद डालता है, यही हाल क्षयका है। जब किसी तरहके लगातार अतिश्रम (strain)के परिणाम स्वरूप शारीरिक शक्तिका ह्रास होता है, तो क्षय जाग उठता है, और वह फुफकारना शुरू कर देता है। जब वह एक बार जाग्रत हो जाता है, तो फिर जल्दी ही शान्त नही होता, और शान्त होता भी है, तो उसके फिरसे जाग जानेकी पूरी सम्भावना रहती है। एक बार शरीरके अन्दर मज़बूतीके साथ उसका डेरा जम जानेके बाद फिर उसे उखाड डालना क़रीब-क़रीब असम्भव-सा है। उचित सार-सँभालके फलस्वरूप तपेदिकका रोगी खोया हुआ वज़न और ताक़त फिरसे पा लेता है, काम-धन्धेसे भी लग जाता है, और बीमारीका उसे ख़याल तक भी नहीं रहता, तो भी वह क्षयके असरसे, यानी उसकी छायासे, छूट नहीं सकता, इसीलिये क्षयके बारेमे प्रायः यही कहा जाता है कि वह काबूमें आ गया या दब गया,— कोई यह नही कहता कि वह मिट गया या नाबूद हो गया। मतलब इसका यह हुआ कि रोग बढ़ता नही, या दीखता नहीं, मगर वह शरीरसे जड़मूलके साथ निकल नहीं जाता। बीज रूपमें वह शरीरके अन्दर हमेशाके लिये मौजूद रहता है, और ज़मीनके अन्दर बोये हुए बीजकी तरह अनुकूल सयोग पाने पर उसके फिरसे अंकुरित हो उठनेकी पूरी सम्भावना रहती है। क्षयका अपना यह स्वरूप है। इसलिये दूसरे रोगोंमें जिस तरह रुग्णावस्था और नीरोगावस्थाका, यानी बीमारी और तन्दुरुस्तीका, भेद किया जा सकता है, वैसा इसमें नहीं किया जा सकता। साराश यह है कि क्षय शरीरकी रचना या गठनका रोग है, उसके प्रकट होते ही शरीरके सगठनमें एक तरहका स्थायी परिवर्तन हो जाता है। रोगके प्रथम दर्शनके साथ शरीरमे

जो बेहद कमजोरी आ जाती है, उसे दूर करके फिरसे शक्ति-सचय करनेवाला क्षयरोगी इस बातको भूल जाता है कि क्षय कभी निर्बीज नहीं होता, और उसके कारण शरीरका संगठन हमेशाके लिये बदल जाता है। नतीजा यह होता है कि वह रोगको पूरी तरह अंकुशमें रखनेकी मर्यादाको भूल जाता है, ऐसे समय उसके फिरसे रोगका शिकार होनेकी नौबत आ जाती है।

चूँकि दूसरे रोगोंकी तरह क्षय बिलकुल निर्बीज नहीं होता, इसलिये वह बार-बार प्रबल या निर्बल बनता रहता है। उसकी निर्बलता या प्रबलताका आधार हरएक आदमीकी अपनी जीवनी-शक्तिकी प्रबलता या निर्बलता पर रहता है। चूँकि हकीकत यही है, इसलिये क्षयके बीमारकी सार-सँभालका सबसे बड़ा मुद्दा भी यही है कि उसकी जीवनीशक्तिके विशेष ह्रासको रोका जाय, और उसे बढ़ाने व टिकानेकी कोशिश की जाय। वैसे, क्षय पर विजय पानेके लिये तरह-तरहके इलाज निकले हैं, और हर साल निकलते रहते हैं। इसके कारणोंमें भी रोगके स्वरूपकी वह विचित्रता ही एक मुख्य कारण मालूम होती है। तो भी इस रोगके कुछ उपाय तो सबके लिये अनिवार्य हैं, उनके बिना दूसरे करोड़ों उपाय बेकार हो जाते हैं। यहाँ तो हमें उन्हीं उपायोंका ब्यौरेवार विचार करना है, जो अनिवार्य और सर्वसामान्य हैं।

७

क्षयकी चिकित्सा

क्षयके स्वरूपको ध्यानमें रखते हुए उसकी चिकित्साका एक ही लक्ष्य हो सकता है: रोगीकी शक्तिके ह्रासको रोकना, उसकी ताक़तको बढ़ाना, ऐसी परिस्थिति पैदा करना, जिसमें वह टिकी रह सके; और रोगीको इस लायक़ बना देना कि वह फिरसे काम-काज कर सके। ताक़तके बारेमें हरएक रोगीके लिये एक-से पैमानेकी और परिणामकी आशा नहीं रक्खी जा सकती। तन्दुरुस्त लोगोंमें भी शक्तिका अपना एक तारतम्य होता है; और क्षयके रोगियोंमें वह विशेष रूपसे पाया जाता है। रोग पैदा होने से पहले जो ताक़त रहती है, उतनी और वैसी ही फिरसे पा लेनेकी उम्मीद तो की जा सकती है, फिर भी यह साफ है कि सब किसीकी यह आशा हमेशा सफल नहीं होती। पुनः शक्ति पानेका सारा दारोमदार इस बात पर है कि रोगके भीतरी और बाहरी लक्षण गंभीर हैं या मामूली हैं, और रोगीकी सार-सँभालके साधन कैसे हैं। कुछ लक्षण इतने कठोर या असाध्य होते हैं कि अच्छी-से-अच्छी चिकित्साके बाद भी रोगी काम-काज करने लायक़ हालतमें क्वचित् ही आ पाता है; कुछ मामलोंमें पैवदो जितनी सफलता मिलती है; लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी होते हैं, जिनमें रोगको दबाने और पूरी तरह अंकुशमें लानेकी सफलता प्राप्त होती है।

क्षयका इलाज कुछ दिन या कुछ हफ्तोंमें पूरा नहीं होता; उसके लिये महीनोंकी ज़रूरत रहती है, और अकसर दो-चार

सालकी गिनती भी करनी पड़ती है। इलाजके लिये किसको कितनी मुद्दतकी ज़रूरत होगी, रोगकी परीक्षाके साथ ही इसका कोई अंदाज नहीं लगाया जा सकता, न इलाजके दरमियान ही इस बारेमें कुछ कहा जा सकता है। एक बात साफ तौर पर कही जा सकती है, और वह यह कि रोगीको फिरसे काम-काज करने लायक़ ताक़त पानेमें एक अनिश्चित और लम्बे समयकी और साधनोंकी आवश्यकता रहती है, रोगीके लिये आर्थिक साधनोंसे भी बढ़कर आवश्यकता है, उचित मनोदशाकी, इसपर रोगके निवारणका जितना आधार है, उतना और किसी एक चीज़ पर नहीं।

इलाजके दिनोंमें रोगीको अकसर आशा-निराशाके थपेडे खाने पडते हैं, और, कारण हो या न हो, अकसर अपने सहायककी नाराज़ी मोल लेनी पडती है, कोई मौके ऐसे भी आते हैं, जब दिलको सदमा पहुँचता है; सच्चे-झूठे अनेक तरहके विचार मनको मथानी पर चढाये रहते हैं, मन चिन्तासे घिर जाता है, और आदमी एक तरहकी उदासीमें डूब-सा जाता है, अकसर आशाका तार टूटता नज़र आता है। फिर भी जरूरत इस बातकी है कि रोगी प्रयत्नशील रहे, अचल और अटल रहे, सावधान और आग्रही रहे। उसे अपनी बुद्धि और अपने विवेकका हितकर उपयोग करते रहना चाहिये। भूतकालके विचारोंको भूलकर, चिन्ता छोड-कर, प्राप्त परिस्थितिके साथ मन पूर्वक समझौता करके, आसपासके दूसरे सब विचारोंको गौण बनाकर, और जो संकट आ पडा है, उससे झटपट मुक्त होनेके लिये आवश्यक उपचार करनेमें मनको तन्मय बनाकर क्षयके रोगीको अपने लिये एक हितकारी मनोदशाका निर्माण कर लेना चाहिये। उसके लिये यह ज़रूरी है कि वह अपने जीवनमें सन्तुलन या समताको प्रधानता दे। उसकी मनोदशा जितनी

सरल और प्रसन्नतायुक्त रहेगी, रोगसे घिरा रहकर भी वह जितना 'शान्त आनन्द' (गांधीजी) अनुभव करेगा, और समतावान बनेगा, उतना ही वह अपने रोगसे जल्दी छुटकारा पा सकेगा। उसकी इच्छा हो चाहे न हो, उसे बहुत-कुछ बरदाश्त करना पड़ता है; तो फिर मनको समझाकर वह अपनी तबीयतको सहनशील क्यों न बना ले? वैसे बरदाश्त तो गधा भी बहुत-कुछ करता है, लेकिन इन्सान समझकर बरदाश्त करता है, और इसमें बड़ा फर्क पड जाता है! गधेको उसकी सहिष्णुताका कोई फल नहीं मिलता, जब कि मनुष्यकी सहिष्णुता उसे महान् संकटसे उबार लेती है। कलापीने* निरर्थकही यह केकारव नहीं किया:

"सहन करवुं एय छे एक ला'णुं"[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि क्षयरोगकी चिकित्साका मतलब है रोगीकी शक्तिके लिये उपाय सोचना। तन्दुरुस्त हालतमें भी आदमीकी ताक़त हररोज़ खर्च होती है, और आराम व ख़ूराक पाकर रोज़-रोज़ नई शक्ति पैदा होती है। जब इन दोमेंसे किसी एकका अभाव रहने लगता है, तो तन्दुरुस्ती पर उसका असर भी होने लगता है। जबतक शक्तिके व्यय और उत्पादनमें ठीक सन्तुलन रहता है, तबतक तन्दुरुस्ती भी अच्छी रहती है। क्षयके पैदा होनेसे पहले यह सन्तुलन बहुत ही अस्थिर हो जाता है। धीमे-धीमे व्ययका पलडा झुकने लगता है, और उत्पत्तिका ऊपर उठने लगता है; और जब यह हालत एक-सी चलती रहती है, तो रोग भी अपना असर दिखाने लगता है। चिकित्सामे पहली ज़रूरत शक्तिके सन्तुलनको फिरसे स्थापित करनेकी है, और

---

* गुजरातके एक सुप्रसिद्ध स्वर्गीय कवि।

१. अर्थात्, सहनेमें भी एक तरहका सुख है।

उसका सरल, सीधा और सरस उपाय यही है कि शरीर और मनको सम्पूर्ण आराम पहुँचाया जाय। उचित आहार, शुद्ध हवा और प्रकाश, घटती हुई शक्तिको रोकने और टिकाये रखनेमें उपयोगी होते हैं रोगका ज़ोर कम पडनेके बाद यथासमय क्रमिक व्यायाम करना शक्ति बढ़ानेका एक उपाय है। जब इस तरहका उपचार योजनापूर्वक और प्रमाणबद्ध होता है, तभी वह इष्ट फल देता है। सारांश यह कि बीमारीके दरमियान रोगीके लिये नियम और संयमका पालन अनिवार्य है। जिस तरह बिना प्राणके शरीर नहीं टिकता, उसी तरह इस विधिपुरस्सर योजनाके बिना क्षयरोगकी चिकित्सा भी सफल नहीं होती। इस प्रकारके 'आहार-विहार-योग'को आजकलकी भाषामें 'सॅनेटोरियम ट्रीटमेण्ट' कहा जाता है।

क्षयकी चिकित्साके बारेमें अमेरिकन सेनाके सर्जन-जनरल बुशनेलका यह कथन बडा मार्मिक है· "क्षयके लिये हम कोई दवा नहीं सुझाते, बल्कि एक खास तरहकी रहन-सहन पर ज़ोर देते हैं।" मानवजातिकी सस्कृति कुछ ऐसी बनती आई है, कि मनुष्यको प्राय प्रकृति-विरुद्ध जीवन बिताना पडा है। उसकी रहन-सहनमें कुछ ऐसे तत्त्व घुस गये हैं, जो अकसर उसके शरीरकी जीवनीशक्तिको नष्ट किया करते हैं; तिस पर भी शरीर कृत्रिमतासे बराबर टक्कर लेता है और आरोग्य एकदम दुर्लभ नहीं बन गया है। इसमें हमें शारीरिक शक्तिकी अदम्यताकी एक झॉकी-सी होती है, लेकिन उसकी भी एक हद है। अतिशयताके कारण इसका अखूट स्रोत भी खूटने लगता है, और क्षय-जैसे रोगकी उत्पत्तिके गर्भमें यही सब रहता है। इलाजके बाद पहलेकी तरह कृत्रिम जीवन बितानेकी ताकत नहीं आती, फलत· क्षयके बीमारको इच्छा या अनिच्छापूर्वक ही क्यों न हो, उसका लोभ छोडकर नवीन किन्तु वास्तविक रहन-सहन पर आना पडता है — दूसरा कोई चारा रह नहीं जाता।

८

संस्था और घर

क्षयके इलाजमें काफ़ी समय लगता है; साधनोंकी भी ज़रूरत रहती है; अनुकूल वातावरण भी आवश्यक होता है; रोगीकी रहन-सहनमें बहुत-कुछ हेर-फेर और नई रचना करनी पड़ती है; जब रोगका ज़ोर ज्यादा होता है, तब रोगीको पूरा-पूरा आराम लेना पड़ता है, और डॉक्टरी मददकी ज़रूरत बनी रहती है। यह सब घरमें आसानीसे नहीं सध सकता; पैसे-टकेकी और दूसरी तंगीकी वजहसे घरमें रहने-सहनेकी सहूलियत और हवा-उजेलेका प्रबन्ध ठीक-ठीक नही हो पाता। घरका वातावरण प्रवृत्तिप्रधान और तन्दुरुस्त लोगोंके अनुकूल होता है; रोगीको निवृत्तिप्रधान वातावरणकी जरूरत रहती है। घरमे तरह-तरहकी हलचलें होती रहती हैं; वे रोगीके आराममें रुकावट डालती हैं; घरके तन्दुरुस्त लोगोमें वह अकेला पड जाता है; उसकी दिनचर्या उनकी दिनचर्याके साथ मेल नही खाती; घरवाले इसके सूक्ष्म रहस्यको झट समझ नही पाते; इसलिये जाने-अनजाने कलहके कारण पैदा हो जाते हैं, नई आदतें डालनेका काम मुश्किल हो पड़ता है। घरकी अनेक हलचलोंकी ओर मन खिंचता है; उनमें भाग लेनेको जी ललचाता है; कई तरहकी आधि-उपाधिके कारण ऑखके सामने आते रहते हैं; इससे मनको आवश्यक शान्ति नहीं मिलती, नई दिनचर्याके अनुसार चलने पर दूसरोंसे मिलने या उन्हे देखनेका मौक़ा नहीं मिलता, अतएव उसकी ज़रूरत और लाभ झट गले नहीं उतरते, अनुभवी सलाहकारकी सतत

उपस्थितिका लाभ नहीं मिलता। कुटुम्बके तन्दुरुस्त लोगों और तपेदिकके बीमारकी रहन-सहन परस्पर बहुत-कुछ भिन्न और विरोधी होती है, परिवारवाले अपनी भावना और बुद्धिकी मददसे इस भिन्नता और विरोधको कितना ही कम करनेकी कोशिश क्यों न करें, फिर भी बेबसीके कई ऐसे मौके आ जाते हैं, जब दोनोंको सन्तुष्ट रखनेवाली परिस्थिति पैदा करना मुश्किल हो जाता है। इन्हीं सब कारणोंसे यूरोप व अमेरिकामें क्षयवालोंके लिये संस्थायें कायम की जाती हैं। ये संस्थायें 'सॅनेटोरियम' कहलाती हैं, और इनमें जिस ढंगसे बीमारका इलाज किया जाता है, वह 'सॅनेटोरियम ट्रीटमेण्ट' कहलाता है।

सॅनेटोरियमका मतलब सिर्फ इतना ही नहीं है, कि वहाँ अच्छी जगह, अच्छे मकान, रहनेकी अच्छी सहूलियत, अच्छी ख़ुराक वगैरा शरीरके लिये आवश्यक सभी सुविधाओंका प्रबन्ध रहता है। यह सब तो उसका एक अंगमात्र है, और ऐसा प्रबन्ध तो ताजमहल-जैसे होटलमें भी हो सकता है, क्षयरोगीको उसके भलेके लिये उसके अपने परिवारवालोंसे अलग किया जा सकता है, लेकिन उसकी अन्तरात्माको भूखों मारकर उसकी अवगणना नहीं की जा सकती, उसे तूफानी समुद्रमें एकाकी तैरनेवालेकी तरह अकेला नहीं छोड़ा जा सकता, स्वस्थ मनुष्यकी तरह क्षयके बीमारको भी माया-ममताकी और प्यारकी ज़रूरत रहती है; जब रोगी रोगसे घिरा होता है, तब तो उसे इनकी और भी ज़रूरत रहती है। सच्चा सॅनेटोरियम वही है, जहाँ रोगीको प्यार और मनुहारकी गरमी मिलती रहती है। संस्थाके लिये यही प्राणरूप है, इसके अभावमें संस्था अशक्तों या बीमारोंको घेरे रखनेकी एक जगह-मात्र — पिंजरापोल — रह जाती है। फाउलर कहता है

इलाजमें समय इतना ज्यादा लग जाता है कि कुछ ही बीमार देर तक संस्थाओंमे रह सकते हैं, उन्हें घरमें रहकर अपने इलाजका और सावधानीके साथ रहन-सहन आदिका प्रबन्ध करना ही पडता है, इसी प्रकार जब संस्थाओंमें रहकर बीमार चलने-फिरने और काम करने लायक हो जाता है, तो भी कुछ नियम तो उसे जीवन-भर पालने पडते हैं, इसलिये सस्थाके इलाजकी उत्तमताको मानते हुए भी रोगीके जीवनमे घरका महत्त्व कम नहीं होता ।

घर पर इलाज करानेमें कई खास कठिनाइयाँ हैं, और वे ज्यादा हैं, पर इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ इलाज हो ही नहीं सकता अथवा उसका संतोषजनक परिणाम निकल ही नहीं सकता । अगर घरमे 'आहार-विहार-योग'का पालन किया जाय, तो निराश होने के मौके कम ही आते हैं ।

घर पर इलाज कराते समय बीमारको अपने स्नेहियों और सम्बन्धियोंकी अनुकूलता और सहायताकी अनिवार्य आवश्यकता रहती है । लेकिन उनका सहज स्नेह ही बीमारके लिये उपयोगी नहीं हो सकता, उपयोगी होता है, मात्र विवेकयुक्त स्नेह । रोगी रोगके कारण स्वास्थ्य-जैसी अमूल्य वस्तुको खो देता है; उसे पुन: प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके निकटके स्नेही-संबन्धी क्षयके बारेमें सामान्य ज्ञान प्राप्त करके विवेकपूर्वक उसकी सहायता करें ।

९

प्रदेश

क्षय खासकर शहरी रोग है। शहरोंमे वह इतनी ज्यादा तादादमें क्यों पाया जाता है इसके कारण स्पष्ट हैं। शहरमें जितना कृत्रिम जीवन बिताना पडता है, उतना और कहीं नहीं। शहरोंमें शुद्ध और स्वच्छ हवा, पानी, प्रकाश और ख़ूराककी व रोशनीदार घरोंकी तंगी होती है, और कई तरहका अति श्रम करनेके मौक़े ज्यादा आते हैं। वहां अच्छे साधनसंपन्न लोगोंके लिये भी अकसर ऊपरकी चीज़ें प्राप्त करना मुश्किल हो जाता है, ऐसी दशामें मर्यादित और सकुचित साधनवाले क्या करें? बम्बई-जैसे शहरमें तो पैसे देने पर भी शुद्ध दूध या घी, खाने-पीनेकी शुद्ध चीज़ें, खुली हवादार और भरपूर रोशनीवाली जगहें वग़ैरा प्राप्त करनेमें कितनी कठिनाई होती है, सो किसीसे छिपा नही है। इसलिये जब शहरवालोंको क्षय हो जाता है, तो उनके लिये ज्यादा नहीं तो कम-से-कम इलाजकी मीयाद तक तो शहरके बाहर रहना लाज़िमी हो जाता है।

तब फ़ौरन ही सवाल यह पैदा होता है कि शहर छोड़कर और कहाँ जाया जाय? अगर बीमारकी माली हालतका, उसके परिवार और उसकी घरगिरस्तीका विचार किये बिना इस सवालका जवाब देना हो, तब तो अच्छी-से-अच्छी जगह ही ध्यानमें आती है। लेकिन ये बातें मामूली नहीं हैं; जगहका चुनाव करते समय इन सब बातोंका खयाल न रखनेसे बीमारकी तकलीफ बढ़ सकती है। जब जगहका चुनाव बीमारकी हैसियतका खयाल

रखकर किया जाता है, तभी उसे उस जगहसे जो थोड़ा-बहुत लाभ मिलनेवाला होता है, सो मिलता है। ऐसी तो कोई बात नहीं है कि क्षय किसी खास जगहमें ही होता है, और न यही सच है कि वह किसी खास प्रदेशमें ही अच्छा होता है, यानी काबूमें आता है। क्षय पर विजय पानेमें जो सफलता मिलती है, उसका आधार किसी एक चीज़ पर नहीं होता, यानी परिस्थितिके अनुसार कभी इसे तो कभी उसे प्रधानता या गौणता देनी पड़ती है, और जो सफलता मिलती है, वह इलाजके अनेक अंगोंके फलस्वरूप होती है। यदि ठीक-ठीक सुख-सुविधाका प्रबन्ध किये बिना बीमारको किसी अनजान जगहमें भेज दिया जाय, तो उस जगहके सब तरह अच्छी होने पर भी बीमारको उससे कम ही फायदा पहुँचता है, और अकसर फायदेकी जगह नुकसान ज़्यादा होता है। देवलालीसे पंचगनी अच्छी जगह है; लेकिन पंचगनीमें रहने-सहनेकी आवश्यक सुविधा न हो, और देवलालीमें वह भरपूर हो, तो बीमारको पंचगनीकी अपेक्षा देवलालीमें फायदा होनेकी संभावना ज़्यादा रहती है। क्षयके इलाजमें प्रदेश या स्थानको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देनेकी ज़रूरत नहीं। रोग-निवारणमें प्रदेश कोई चमत्कार नहीं कर सकता। पोटेन्ज़र लिखता है: "क्षयके इलाजके लिये कोई खास जगह निश्चित नहीं। इलाज कहीं भी कामयाबीके साथ किया जा सकता है।" इस सारे सवाल पर गौर करके वह आखिरमें लिखता है: "अच्छी-से-अच्छी जगहमें यथेच्छ भ्रमण करनेकी अपेक्षा मैं उस बुरी-से-बुरी जगहमें रहना ज़्यादा पसंद करूँगा, जहाँ सोच-समझकर, विवेकपूर्वक, इलाज हो सके। क्षयकी जो आवश्यक चिकित्सा है, वह तो अच्छी-से-अच्छी और बुरी-से-बुरी जगहमें भी एक ही रहनेवाली है। जगह उत्तम हो या अधम, बीमारको सर्वत्र

नीचे लिखी बातोंकी ज़रूरत तो रहेगी ही: आराम, खुली और ताज़ी हवामें रहना, पुष्टिकारक ख़ुराक, और समय आने पर व्यायाम या कसरत। ये चीज़ें हर जगह मिल सकती हैं। अगर रोगी आम तौर पर ऊँचे या अच्छे माने जानेवाले प्रदेशोंमें जाकर अपना इलाज नहीं करा सकता, तो सिर्फ इसीलिये उसे निराश होनेकी ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। इलाजके लिये अच्छी जगह जानेको फिशबर्ग तो एक तरहका वैभव या विलास ही समझता है, मतलब यह कि जैसे जीवनके लिये वैभव या विलास आवश्यक नही होता और न वह सबको सुलभ ही होता है; वैसे ही उत्तम प्रदेशमें रहना क्षयकी चिकित्साका कोई आवश्यक अंग नहीं। बीमारको किसी खास प्रदेशके अभावसे दुखी होनेकी ज़रूरत नहीं, उसके लिये तंगदस्तीका सामना करनेमें कोई फायदा नहीं, न अपनी हैसियतसे ज़्यादा खर्च करनेकी कोई ज़रूरत है। प्रदेशके पीछे पागल होकर जहाँ-तहाँ न भटकनेसे जो रक़म बचेगी, वह रोगीको उसके इलाजमें दूसरे प्रकारसे ख़ूब काम आयेगी।

इसका यह मतलब तो हो नही सकता कि स्थान या प्रदेशका प्रभाव शरीर पर बिलकुल पडता ही नहीं, अथवा सब जगहोंका प्रभाव एकसाँ होता है। जिस प्रदेशमें हवाकी गर्मी कुछ ही घटती-बढ़ती है, जहाँ हवामें नमी कम और सर्दी ज़्यादा रहती है, जहाँ हवाकी चाल धीमी होती है, जिस जगहकी हवा कुल मिलाकर शरीरको मीठी और मनको आह्लादक मालूम होती है, इसमें शक नहीं कि वह एक ऊँचे दर्जेका प्रदेश है। लेकिन आरामकी तरह वह इतना अनिवार्य नहीं कि उसके बिना क्षयका इलाज ही न हो सके, या कि वह बेकार हो जाय, और उसका कोई संतोषजनक परिणाम न निकले।

प्रदेशको ज़रूरतसे ज्यादा महत्त्व देनेमें एक और खास बुराईको भी भूलना न चाहिये। दुनियामें ऐसे स्थान विरले ही हैं, जहाँ बारहों महीने एक-सी हवा रहती हो। हमारे देशमें भी किसी प्रान्तमें गर्मी मातदिल होती है, तो किसीमें जाडेका ज़ोर कम होता है, और कहीं बारिश मामूली होती है। ऐसे प्रान्त या प्रदेश अँगुली पर गिने जाने लायक ही हो सकते हैं, जहाँ तीनों ऋतुयें सौम्य हों। अगर हम प्रदेशके महत्त्वको बहुत ज्यादा बढ़ा देते हैं, तो हमें ऋतुपरिवर्तनके साथ प्रदेशपरिवर्तन भी करना पडता है; क्योंकि इलाज तो महीनों और कभी-कभी एक या एकसे अधिक बरस तक चलता है। यह तरीका सबके लिये साध्य नहीं है, इससे बीमारकी परेशानी बढ़ती है, खास तौर पर उसके आरामको धक्का पहुँचता है और बेमतलबकी नई-नई उपाधियोंके बढ़ जानेका डर रहता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इलाजके लिये कुछ इनी-गिनी चीज़ें ही अनिवार्य हैं, कोशिश हमारी यह होनी चाहिये कि हरएक बीमारको वे मिलें। उपयोगी होते हुए भी जो गैर-ज़रूरी-सी हैं, उनमेंसे बीमारकी आर्थिक, सामाजिक और कौटुम्बिक स्थितिके अनुसार जितनी सुलभ हो, उतनी इष्ट हैं।

१०

आराम

चिकित्साकी सफलता या विफलताका आधार इस बात पर नहीं कि क्षयरोगी किस प्रदेशमें रहता है, बल्कि इस बात पर है कि वह जहाँ रहता है, वहाँ किस तरह रहता है। पंचगनी-जैसे उम्दा पहाड़ पर रहनेवाला बीमार भी अगर मनमाना बरते और मनमाना खाये-पिये तो उसके तन्दुरुस्त होनेकी आशा कम रहती है; लेकिन देवलाली-जैसी जगहमें अथवा उससे भी घटिया किसी जगहमें — बम्बईके काँदीवली-जैसे उपनगरमें — रहकर भी अगर बीमार नियमका पालन करता है और एक नियत दिनचर्या पर चलता है, तो उसके अच्छे होनेकी पूरी आशा रहती है।

आराम इलाजकी जान है। क्षय-जैसे चीकट रोगको वशमें लानेके लिये आरामसे भी अधिक मोहक और आकर्षक इलाज हर साल सामने आते हैं, और हर साल ग़ायब हो जाते हैं। क्षयकी सफल चिकित्साके रूपमें दुनियाके सामने कई चीज़ें रक्खी जाती हैं; जैसे, खाने-पीनेकी दवायें, भापके रूपमें और सुईके ज़रिये लेनेकी दवायें, और तरह-तरहके चिराग़ोंकी सेंक वग़ैरा। लेकिन इनमेंसे एक भी चीज़ अबतक ऐसी नहीं निकली, जो तपेदिकके इलाजमें आरामकी ग़रज सार सके, अथवा ऐसी परिस्थिति पैदा कर सके, जिससे आरामकी ज़रूरत न रह जाय। आरामका सहारा लेकर अनेक क्षयरोगी अपने घर वापस आये हैं और आते हैं; लेकिन जो लोग ऊबकर या आरामके महत्त्वको कम मानकर अथवा उसे

घटिया ढंगका इलाज समझ कर उसका त्याग करते हैं, या आराम नहीं करते और अच्छा होनेके लिये आरामके सिवा दूसरे इलाजोंकी आशा लगाकर बैठते हैं, उनमेंसे विरले ही पार लगते हैं।

तन्दुरुस्त आदमी भी दिनभरके कामके बाद थकता है; लेकिन उसकी थकावट उस कामको छोड दूसरे काममें लग जाने या सो लेनेसे अकसर उतर जाती है, और एक निश्चित कामको लगातार देरतक करते रहनेसे जो थकावट या उकताहट पैदा होती है, वह कुछ देरके लिये उस कामसे हट जाने पर कम हो जाती है। तन्दुरुस्त लोगोके लिये कामकी अदला-बदली थकान मिटानेमें बहुत-कुछ कामयाब होती है। लेकिन तपेदिकके बीमारके लिये कामका हेर-फेर या कामसे छुट्टी काफी नहीं होती। अपना रोज़मर्राका चालू काम करते रहनेमें या मनबहलावके लिये कुछ देरको दूसरे काममें लग जानेमें ताकत तो एक-सी ही खर्च होती है। सुबहसे शामतक रोजगार-धन्धा चलानेमें ताकत घटती है; शामके वक्त घूमने जाने या खेल-कूदमें शामिल होनेसे भी शक्तिका ह्रास होता है। जिन कामोंसे ताकत कम होती है, तपेदिकके बीमारके लिये वे काम मना हैं।

क्षयका बीमार यानी एक बेहद थका हुआ आदमी। अगर कुऍको पानीसे लबालब रखनेवाला कोई सोता सूखने लगे, तो जिस तरह कुऍका पानी सपाटेसे कम हो जाता है, उसी तरह तपेदिककी वजहसे रोगवाले अंगके मूल ततुओंका ही नाश होने लगता है, जिससे शरीरकी शक्ति अनेक रूपोंमें कम होती जाती है। तपेदिकके बीमारकी थकावट ऊपरी नहीं, असाधारण या गैर-मामूली होती है। असाधारण थकान उतारनेके लिये आराम भी असाधारण होना चाहिये।

पशु-पक्षियोंको जब चोट लगती है, तो वे आराम करते हैं, खासकर चोट खाये हुए भागको आराम देते हैं और खुली जगहमें लेटकर अपने जख्मको रुझाते या अच्छा करते हैं। शरीरके किसी हिस्सेकी हड्डीके सरकने या टूटने पर आदमी भी अपने उस हिस्सेको आराम पहुँचाता है। जब शरीरकी सन्धियाँ या जोड़ जकड़ जाते हैं, तो आराम करनेसे उनकी जकड़ जल्दी छूटती है। जब शरीरके किसी हिस्सेमें सूजन आ जाती है, तो उस हिस्सेका हिलना-डुलना बन्द कर देनेसे सूजन जल्दी कम होती और उतर जाती है। जो नियम शरीरके ऊपरी हिस्सोंकी चोट वगैराके लिये है, वही शरीरके भीतरी अवयवोंको भी लागू होता है। निमोनियामें फेफड़ोंके अंदर सूजन आ जाती है, जिसे उतारनेके लिये बीमारको बराबर लिटा रखते हैं; टाइफॉइडमें आँतोंके अन्दर जो जख्म पड जाते हैं, उन्हें रुझानेके लिये पूरा आराम करनेको कहा जाता है। क्षयमें फेफडोंकी सूजन होती है; क्षयग्रन्थियाँ आस्ते-आस्ते घुलती और पकती हैं, उनके अन्दरका जहर सारे शरीरमें फैलता है, और शरीर सूखने लगता है। फेफड़ोंको जितना ही आराम मिलता है, विषका वेग उतना ही कम होता है और शरीरका शोषण भी रुकता है। ज़रूरत पडने पर शरीरके दूसरे अवयवोंको तो कुछ समयके लिये निरुद्यमी भी रक्खा जा सकता है, लेकिन फेफड़ोंको साँस-उसाँस लेनेसे बिलकुल रोका नहीं जा सकता; अगर रोका जाय, तो आदमी फौरन मर जाय। फिर भी अगर शरीरको ज्यादा हलचल न करने दी जाय, तो फेफडोंका काम बहुत हलका हो जाता है, और उन्हें ज्यादा आराम मिलता है। नींदमें शरीरकी शक्तिका ह्रास कम और मरम्मत ज्यादा होती है, अगर कुम्भकर्णकी तरह तपेदिकका बीमार लगातार छः महीने सो सके, तो रोगको लेकर सोने पर भी

जागने पर वह नीरोग नज़र आयेगा। लेकिन यह तो कल्पनाकी दुनियामें हो सकता है, सचमुचकी दुनियामें तो सोने और जागनेकी वारी बँधी रहती है। अगर रोगीको हर रोज गहरी और विना सपनोंवाली नींद मिला करे, तो उसका फल भी उसे जरूर मिले। जागनेकी हालतमें आदमीको चलने-फिरने या खडे होनेमें जो मेहनत पडती है, वैठे रहनेमें उतनी मेहनत नहीं पडती, पैरोंको लटकाकर वैठनेकी अपेक्षा उन्हें समेटकर और सहारेसे वैठनेमें मेहनत उससे भी कम पडती है, और पूरी तरह फैलकर सोनेमें शरीरकी कम-से-कम ताकत खर्च होती है।

जवतक रोगके विषका प्रभाव मालूम होता हो, रोगीको दिन-रात विछौने पर ही रहना चाहिये — और कोई चारा नहीं। विना इसके न तो दर्द या शूल कम हो सकता है, न मिट सकता है, न रोगके विषकी गति मन्द हो सकती है, न वन्द हो सकती है, और न फिरसे उठने-वैठने, चलने-फिरने या काम-काज करनेकी ताकत आ सकती है।

विछौनेमें भी वीमार जिस ढगसे लेटा रहेगा, उसीके अनुसार उसे कम या ज्यादा आराम मिलेगा। सवसे ज्यादा आराम तो तव मिलता है, जव शरीरको फैलाकर आदमी अपने अग-अगको विलकुल ढीला छोड सोता है। विछौनेमें विना किसी चीजके सहारे वैठना ठीक नहीं, तकियेके सहारे भी वहु देर तक वैठना मुनासिव नहीं, लोट लगाना भी उचित नहीं। इससे थकान पैदा होती है, और आरामका जो फल मिलना चाहिये, उसके मिलनेमें रुकावट पैदा होती है। आरामके लिये कमानीदार या उसी ढंगके दूसरे ढीले पलग वगैरा निकम्मे हैं। जव विछौना वहुत सख्त, वहुत मुलायम या वहुत ढीला होता है, तो ठीक-ठीक आराम नहीं,

मिलता, और करवट बदलते वक़्त या किसी मौकेसे बैठते वक़्त बीमारको थकान-सी मालूम होती है ।

मनुष्यके पास सिर्फ़ शरीर ही नहीं है; मनन करनेवाला मन भी उसके पास है । बिछौनेमें पड़े-पड़े शरीरको पूरा-पूरा आराम पहुँचाते हुए भी अगर चंचल मन मनमाना भटकता रहे, सुख-दुःखके विचार किया करे, रज और उदासीमें डूबा रहे, खुशी और नाराजी पैदा करता रहे, रोगके बारेमें कई तरहके खयाल उपजाता रहे, आई हुई मुसीबत पर रोता रहे, चिन्तासे घुलता रहे, और बार-बार ऐसी हालत पैदा करता रहे कि जिससे साँस लेनेमें रुकावट हो, तो साफ है कि आरामका असर कम होगा । शरीर और मन दोनों एक-दूसरे पर असर करते हैं; दोनोंको बराबर आराम मिलना चाहिये । मन जितना ही बेफ़िक्र और ख़ुश रहेगा, उतना ही फायदा होगा । इसमें अति होनेका कोई डर नहीं । मनको उद्योगरहित रखनेकी आदत डाल लेनेसे रोग पर विजय पानेका मार्ग सरल हो जाता है, इससे रोगके बादका जीवन भी खिला हुआ रहता है । और, समय समय पर जो विकट परिस्थितियाँ पैदा होती हैं, उनमें बिना घबराये धीरजसे काम लेनेकी आदत बनती है ।

शय्या पर पड़कर आराम लेनेवाला बीमार अगर अपनी जबानको वशमें नहीं रखता और बकवास किया करता है, तो उससे भी आरामका असर कम होता है । बोलनेमें फेफड़ोंको खास तौर पर मेहनत पड़ती है, और आराम करनेमें फेफड़ोंको आराम पहुँचानेकी बात ही मुख्य है । बहुत बोलने और बात-बात पर हँसनेके साथ फेफड़ोको आराम पहुँचानेकी इच्छा रखना सूरजके बिना उसकी रोशनीकी आशा रखनेके समान है । रोगीको अपने हितके लिये मितभाषी बनना चाहिये ।

आरामका असर तुरन्त होता है — वह प्रत्यक्ष है। उसकी वजहसे कमज़ोरीका बढ़ना रुकता है, वज़न बढ़ता है, बुखार उतरने लगता है, नाड़ीकी गति कम होती है, भूख खुलती है, रोगके लक्षण दबते और दिखने बन्द होते हैं, और फलतः शरीर धीरे-धीरे फिर काम करने लायक बनता है। आरामका यह परिणाम कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह सोचना या शक करना फ़ज़ूल है कि सिर्फ पड़े रहनेसे तपेदिकके बीमारको भूख न लगेगी या उसकी ताकत घटेगी और उसके अंग शिथिल हो जायँगे। रोगकी खराबियाँ ज़हरके कारण पैदा होती हैं। रोगीमें कमजोरी या भूखकी कमी और रुचिका अभाव वगैरा आरामके कारण नहीं, रोगकी भीषणताके कारण पैदा होते हैं। मेहनत करनेसे रोग बढ़ता है, और उसमें खतरनाक खराबियाँ पैदा हो जाती हैं। दूसरी हालतोंमें हाज़मा सुधारने और शरीरको मज़बूत बनानेके लिये मेहनत-मशक्कतका उपयोग है. लेकिन जब क्षय ज़ोर पर होता है, तब श्रम विषका काम करता है। यह तो हर कोई समझ सकता है कि शरीरको मजबूत बनानेके मामूली नियम तपेदिकवालेके कामके नहीं होते। जब रोगी अपनी या अपने मित्रों और रिश्तेदारोंकी आराम-विरोधी मौजों या तरंगोंके वश होकर आरामसे मुँह मोड़ लेता है, तो वह अपने हाथों अपना बेहद नुकसान कर लेता है।

आराम सचमुच किस हद तक किया जाय, इसका विशेष वर्णन ज्वर और व्यायामवाले अध्यायमें किया जायगा। यहाँ सिर्फ यही कह देना काफी होगा कि जब क्षयका बुखार, नाड़ीकी रफ्तार, और शरीरका हदसे ज़्यादा शोषण वशमें आ जाता है, या दूर हो जाता है, तो आस्ते-आस्ते आराम कम करके व्यायाम शुरू किया जा सकता है। फेफड़ोंकी भीतरी हालतके पूरी तरह

सुधरने तक सम्पूर्ण आराम करनेकी इच्छा कुल मिलाकर एक ग़लत और अन्तमें नुकसान पहुँचानेवाली चीज़ है। फेफड़ोंकी भीतरी हालतको बिलकुल अच्छी बनानेके लिये ज्यादा नहीं, तो कम-से-कम तीन-चार साल शय्यावश रहनेकी ज़रूरत है, और यह एक जानी हुई बात है कि ऐसा करनेमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। इस रास्ते जानेसे रोगीके फेफडे बिलकुल अच्छे हों चाहे न हो, एक काम ज़रूर होता है, और वह यह कि रोगीका शरीर और उसका मन जीवनमें रस लेने और काम करने लायक़ नहीं रह जाते; उस दशामें रोगी रूखे-सूखे स्वभावका, कमजोर, निस्तेज और पशु-सा बन जाता है। चिकित्साका हेतु केवल साँस-उसाँस चालू रखना नहीं होता। हरएक आदमी जीवनमें किसी-न-किसी तरहकी दिलचस्पी रखता है, रखना चाहता है; उसकी अपनी कोई खास निश्चित या अनिश्चित धारणा होती है; इसीलिये जब आदमी बीमार पड़ता है, तो वह फिरसे तन्दुरुस्त होनेकी कोशिश करना चाहता है। उसूली तौर पर इलाजसे बहुत-कुछ फायदा हो सकनेकी उम्मीद रहती है, लेकिन हरएक रोगीका अलग-अलग विचार करना पडता है, और जिस रोगीके लिये जो चीज़ सबसे ज्यादा संभव मालूम होती है, उसका आग्रहपूर्वक स्वीकार और पालन करने पर ही रोगीको कुछ फ़ायदा हो सकता है। इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि आरामकी अति न हो जाय और उससे उसकी नैतिक हानि न हो। क्षयरोगीके लिये वही आराम सुखकर होता है, जो एक हिसाबसे लिया जाता है; नहीं तो उलटे तकलीफ़ बढ़ती है।

११

ताज़ी हवा

तपेदिकके इलाजमें ताज़ी हवा ज़रूरी है। यह हवा सबसे ज़्यादा और हमेशा आसमानके नीचे खुलेमें मिलती है, और सबसे कम घरके अन्दर। बीमारको मौसिम देखकर अपनी सहनशक्तिके अनुसार खुलेमें, छायामें या घरके अन्दर ऐसी जगह रहना चाहिये, जहाँ सबसे ज़्यादा हवा मिल सके। ताज़ी हवासे फायदा उठाते समय पूरी-पूरी समझदारीसे काम लेना चाहिये।

हवा, पानी और अनाज ये तीनों हर आदमीकी जिन्दगीके लिये जरूरी हैं। बिना अन्नके आदमी कुछ हफ्ते जी सकता है, अन्न और पानीके बिना भी वह कुछ दिन निकाल सकता है, लेकिन हवाके बिना तो वह एक पल भी नहीं जी सकता; हवाका यही महत्त्व है। कुदरतमें अन्नसे ज़्यादा पानी और पानीसे भी ज़्यादा हवा पाई जाती है, दुनियाकी सतह पर ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ हवा न हो।

हवाका प्राणपोषक तत्त्व — ऑक्सीजन — सब जगह है। जहाँ हवाके आने-जानेका कम-से-कम और बुरे-से-बुरा बन्दोबस्त है, वहाँ भी आदमीके लिये जरूरी ऑक्सीजन मौजूद रहता है। ऐसी जगहोंमें भी उसका परिमाण एक प्रतिशतसे ज़्यादा शायद ही कभी कम होता है, और उसमें दस फीसदी कमी हो जाने पर भी आदमी आरामसे रह सकता है।

ऑक्सीजन या प्राणवायु जीवनके लिये बहुत उपयोगी है। शरीरमें इसकी मात्रा जरा भी कम होती है, तो आदमी अपने आप गहरी साँस लेने लगता है, और इस तरह ऑक्सीजनकी कमीको पूरा कर लेता है। कोई पहलवान या कसरती आदमी ज़ोरोंकी कसरत करता है, तो उसके शरीरमें प्राणवायुकी खपत ख़ूब बढ़ जाती है, इसीलिये साँस जल्दी-जल्दी चलने लगती है; अगर कोई ज़रूरतसे ज्यादा गहरी साँस लेता है और शरीरके अन्दर प्राणवायु ज्यादा मात्रामें चली जाती है, तो सिरमें चक्कर आने लगते हैं और आदमीको मूर्च्छा-सी आ जाती है। प्राणवायु अग्निमय है। अगर कोई प्राणवायु-प्रधान हवा बनाकर उसमें घण्टों रहना चाहे, तो उसके लिये वह ज़हर-सी हो जाती है; वह फेफड़ोंमें जलन पैदा कर देती है। जो लोग 'हवाखोरी'के लिये घरसे बाहर निकलते हैं, वे ज्यादा प्राणवायु लेने नहीं निकलते। हवाखोरी का लाभ तो ताज़ी हवामें है।

जिस तरह साँसके ज़रिये बाहरकी साफ हवा अदर जाती है, उसी तरह फेफड़ोंके अन्दरकी गन्दी हवा भी बराबर बाहर निकलती रहती है। यह गन्दी हवा 'कार्बन डी ऑक्साइड' कहलाती है। हवामे यह चीज़ थोडी मात्रामें रहती है, साँससे यह जितनी निकलती है, उसके कारण इसकी मात्रामें कोई गैर मामूली बढ़ती नहीं होती। हवामें इसकी मिलावट इतनी नहीं होती कि नुकसान पहुँचावे। कमरेके अन्दर बहुत ज्यादा भीड हो जाने पर भी वहाँकी हवामें कार्बन डी ऑक्साइडकी मात्रा आधे टकेसे ज्यादा नहीं बढ़ती; जब-तक तीन टकेसे अधिक वृद्धि न हो, इसका कोई बुरा असर नहीं होता। सिर्फ़ खानोंके अन्दर और सीलवाले कमरोंमें यह हानिकारक मात्रामें पाई जाती है।

हवाके तीन मुख्य तत्त्व हैं : नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और कार्बन डी ऑक्साइड। जिस तरह बहुत तेज़ तेज़ाबको पानी मिलाकर हलका बनाते हैं, उसी तरह नाइट्रोजन अग्निमय ऑक्सीजनको हलका बनाता है। हवाके इन तत्त्वोकी मात्रामें आमतौर पर कोई फर्क नहीं पडता, फिर भी कभी-कभी आदमी हवासे मिठास और आह्लाद आदिका अनुभव करता है, और कभी हवामें उसका दम घुटता-सा है, वह घबराहट, बेचैनी और परेशानीका अनुभव करता है। इसकी वजह ऑक्सीजनकी कमी या कार्बन डी ऑक्साइड की अधिकता नहीं होती। आराम या बेचैनीका आधार हवाकी तासीर पर है।

हवामें गरमी, नमी और वेग या गति है। इन तीनोंके मेलसे हवाकी तासीर बनती है। अलग-अलग प्रदेशोंमें और सालके अलग-अलग महीनोंमें, रोज-रोज, और दिनमें अलग-अलग वक्त पर इन तीनो तत्त्वोंमें घट-बढ होती रहती है। सालमें ज्यादा-से-ज्यादा जो घट-बढ होती है, उसपरसे किसी एक प्रदेशकी औसत हवाका निश्चय किया जाता है। अंग्रेज़ीमें इसे उस जगहकी climate (क्लाइमेट्) यानी जलवायु कहते हैं। किसी प्रदेशकी ज्यादा-से-ज्यादा घट-बढके बीच हवामें बार-बार जो हेर-फेर होते हैं, वह उस जगहका weather (वेदर) यानी मौसिम कहलाता है। अच्छी और बुरी हवाका भेद इन तीन तत्त्वोंके न्यूनाधिक परिमाण परसे जाना जाता है।

मनुष्यमें हवाके हेर-फेरको बरदाश्त कर लेनेकी एक अजब ताकत है। वह रेगिस्तानकी बेहद गरमी और ध्रुव प्रदेशकी भीषण सर्दीको, पर्वत शिखरकी सूखी और समुद्रतटकी गीली हवाको सह सकता है। खूब तेज़ और एकदम स्थिर हवाको भी वह बरदाश्त

कर लेता है। सुबह समुद्र किनारे रहने और शामके वक्त पहाड़की चोटी पर जानेसे भी उसकी तबीयतमें कोई फ़र्क़ या खराबी पैदा नहीं होती।

शरीरके अन्दर जो तरह-तरहकी क्रियायें होती रहती हैं, उनमें शरीरकी गरमीको लगातार एकसाँ रखनेकी क्रिया बराबर चलती रहती है। बहुत ज़्यादा मेहनत करनेसे शरीरकी गरमी १०३ और १०४ डिग्री तक पहुँच जाती है, लेकिन मेहनत बन्द करनेके एकाध घण्टेके अन्दर बढ़ी हुई गरमी कम हो जाती है, और शरीर पूर्ववत् गरम मालूम होने लगता है। जबतक शरीरके अन्दर गरमीकी उत्पत्ति और निवृत्ति सन्तुलित रहती है, तबतक हवाके हेर-फेरसे शरीरको नुकसान नहीं पहुँचता। तन्दुरुस्त आदमीके अन्दर यह क्रिया भली-भाँति होती रहती है, इसलिये वह रेगिस्तानमें हो या ध्रुवप्रदेशमें, हवाके परिवर्तनसे उसे तकलीफ़ नहीं होती, सख्त गरमीमें वह झुलस नहीं जाता और कड़ाकेकी सर्दीमें वह ठिठुर नही जाता।

हवा सर्द या गर्म, सूखी या गीली, तेज़ या कुन्द होती है। सर्द, सूखी और चंचल या तेज़ हवा सबसे अच्छी होती है, गरम, गीली और कुन्द हवा सबसे बुरी। इन दोनोके बीच अच्छी-बुरी हवाके कई भेद होते हैं। उत्तम या अधम हवा किसी एक प्रदेशमें हमेशा मौजूद नहीं रहती, उसमें बार-बार तब्दीलियाँ हुआ करती हैं।

हवाके अन्दर गरमी, नमी और चंचलताकी मात्रामें जो घट-बढ़ होती है, उसके अनुसार हवाके गुणमें भी फ़र्क पडता है। सर्दी शरीरकी शक्तिको सतेज बनाती और आराम पहुँचाती है; गरमीसे शक्ति कम होती और बेचैनी बढ़ती है। नमीवाली हवाके मुक़ाबले सूखी हवा शरीरकी गरमीको कम चूसती है; कुन्द या स्थिर हवाके मुक़ाबले चंचल या तेज हवा शरीरकी गरमीको ज़्यादा

खींचती है। वह ज्यादा ताज़ी होती है और फलतः ज्यादा सुख और आराम पहुँचाती है।

हवामे सर्दी और नमीके साथ गति भी हो, तो शरीरकी वहुतेरी गरमी उसके साथ निकल जाती है और शरीर-तन्त्रमें एक खिंचाव पैदा होता है। ऐसी हालतमे शरीरको गरम रखनेके लिये अन्न, वस्त्र और परिश्रमकी मदद न ली जाय, तो शरीर सर्द हो जाय, और ज्यादा देर तक सर्द बना रहे, तो नुकसान हो।

सूखी गरमीकी अपेक्षा नमीवाली गरमी ज्यादा थकान और बेचैनी पैदा करती है। पानीमें गरमीको सोखने और उसका संग्रह करनेकी शक्ति बहुत है, इसलिये नमीवाली गरमीमें सबसे ज्यादा बेचैनी होती है। रेगिस्तानमें हवाकी गरमी १२० डिग्रीसे ज्यादा होनेपर भी वह सही जा सकती है, क्योंकि उस हवामें नमी नहीं होती। लेकिन नमीवाली हवाकी गरमी, बम्बई जैसे शहरमे, १०० डिग्री होने पर भी परेशानी पैदा कर देती है।

जब हवा गरम और नमी कम होती है, तो वहाँ छायामें और रातमें ठण्डक रहती है। देवलालीमे नमी कम है, इसलिये वहाँ चैत-बैसाखकी राते भी अपेक्षाकृत ठण्डी होती हैं। चूँकि बम्बईकी हवामें नमी बहुत है, इसलिये गरमियोंमें वहाँकी रातें ठण्डी होती भी हैं, तो बडी देरमे और कुछ ही वक्तके लिये। नमीवाली हवाके कारण जाडोमें सर्दी और गरमियोंमें गरमी ज्यादा मालूम होती है।

जब हवा बिलकुल बन्द होती है, तो जी घबराने लगता है, कामकाज करनेकी इच्छा नहीं होती, और मन खुश नहीं रहता। पंखेसे कुन्द हवामें थोडी गति आ जाती है, और तब घबराहट कुछ कम मालूम होती है।

घरके अन्दरकी हवा बाहरकी हवाके मुक़ाबले कम चंचल और इसीलिये कम ताज़ी होती है, इसलिये आदमीको घरमें रहनेकी अपेक्षा बाहर रहनेमें ज़्यादा आराम मालूम होता है, और जी हवाख़ोरीके लिये बाहर जाना चाहता है। घर कितना ही अच्छा क्यों न बनाया जाय, दीवालोंके कारण हवाकी गति रुकती ही है। चूँकि घरके अन्दरकी हवा उतनी चंचल नहीं होती, इसलिये वह झट-झट बदलती नहीं, और इसीसे कुछ हद तक बासी रहती है। बाहरकी हवाके मुक़ाबले वह ज़्यादा गरम मालूम होती है और अकुलाहट पैदा करती है।

घरके अन्दरकी हवाको सबसे अधिक शुद्ध रखनेका एक ही इलाज है: घरमें दरवाज़े और खिड़कियाँ इस तरह आमने-सामने बनाई जायँ कि एक तरफ़से आनेवाली हवा दूसरी तरफ आरपार निकल सके। लेकिन ऐसे चारों तरफ़से खुले घर कम ही बनते हैं, इसलिये तन्दुरुस्त लोगोंको भी रोज़ जहाँ तक हो सके ज़्यादा-से-ज़्यादा खुली हवामें रहना चाहिये। खुलेमें हवा हमेशा ताज़ी रहती है, उसका असर झट मालूम पडता है, रक्त-जननत्त्व (metabolism-मिटाबोलीज़्म)में, यानी ख़ून पैदा करनेकी ताक़तमें सुधार होता है, भूख खुलती है, हाज़मा सुधरता है, नींद गहरी आती है, और कुल मिला कर सारे शरीरकी ताक़त बढ़ती है।

शरीरको नीरोग रखनेमें त्वचा या चमड़ीका अपना खास महत्त्व है। शरीरमें परिश्रम वग़ैरासे पैदा होनेवाली अतिरिक्त गरमी और दूसरी गन्दी चीज़ें चमड़ीके ज़रिये बाहर निकलती हैं। अगर हवा शरीरका स्पर्श न करे तो चमड़ी अपना काम ठीकसे कर नहीं सकती; इससे शरीर और मनकी स्फूर्ति कम होती है, अन्न-सम्बन्धी रुचि और भूख घटती है, गहरी और थकान मिटानेवाली नींद

नहीं आती, और खाये हुये अन्न पर होनेवाली विविध प्रक्रियाओं द्वारा शरीरमें जो खून बनता है, उसके बननेकी क्रिया भी — रक्तजननविधि (metabolism) — मंद पड जाती है। बहुतोंको सिरसे पैर तक ओढ़कर सोनेकी आदत होती है। उन्हें प्राण-वायु तो मिलती रहती है, लेकिन चूँकि उनके शरीरके आसपास ताजी हवाकी आमद-रफ्त कम होती है, इसलिये बाहरकी हवाके मुकाबले उनके शरीर ज्यादा गरम होते हैं। शरीरकी यह बढ़ी हुई गरमी बाहर निकल नहीं पाती, इसलिये शरीरको जो ताकत मिलनी चाहिये, नहीं मिलती। नतीजा इसका यह होता है कि नींद उचटी-उचटी रहती है, कभी-कभी दिलकी धडकन बढ़ जाती है, और सोनेवाला नींदमें चौंक-चौंक उठता है। बन्द या स्थिर हवा एक तरहकी बासी हवा होती है, उसमें रहनेसे शरीर ख़ूब गरम हो उठता है।

गर्मियोंमें पानी ज्यादा पीने और गरम ख़ुराक कम खानेसे गरमीकी तकलीफ कम हो जाती है। पानी एक साथ बहुत-सा पी लेनेसे अच्छा यह है कि थोडा-थोडा करके कई बार पिया जाय। बर्फवाले पानीके मुकाबले मटकेका ठण्डा पानी अच्छा होता है; बर्फवाला पानी हाज़मेको बिगाडता है। महीन, गिने-चुने और सफेद रंगके कपडे गरमीको सहनेमें मदद पहुँचाते हैं। गरमियोंमें मेहनत भी कुछ कम ही करनी चाहिये और सो भी दिनके सर्द भागमें कर लेनी चाहिये। सर्दियोंमें बदनको गरम रखनेके खयालसे जो लोग बेहद कपडे पहनते हैं, और शरीरको हवाका स्पर्श तक नहीं होने देते, उन्हें सर्दीका फायदा कम ही मिलता है।

तपेदिकका बीमार मौसिमके माफिक बननेकी अपनी ताकतको कुछ हदतक खो चुका होता है, फिर भी इसको लेकर उसे बहुत

ज्यादा तकलीफ नही उठानी पड़ती। धीरज और शान्तिसे काम लेने व फ़िज़ूलकी घवराहटसे बचने पर जो थोड़ी कठिनाई मालूम होती है, वह भी अकसर दूर हो जाती है। जब हवा ज्यादा गरमी हो उठती है, और खासकर जब अचानक ऐसा हो जाता है, तो कई मरीजोके 'टेम्परेचर' यानी तापमान पर उसका असर पडता है; शरीरकी गरमीमे एक या आधी डिग्रीका इजाफा हो जाता है। यह इजाफा चूँकि एक खास वजहसे होता है और कुछ ही देरके लिये होता है, इसलिये इससे रोगको किसी तरहका पोषण नही मिलता, ऐसी हालतमें सिर्फ़ मेहनत कम कर देनी चाहिये।

कई बीमारोंको क्षयके साथ फेफड़ोंकी श्वासनलीमें सूजन भी होती है। जब हवामें नमीकी मात्रा बेहद बढ़ जाती है, तो कभी-कभी ऐसे बीमारोको काफी परेशानी होती है और बलगम बढ जाता है। लेकिन इस चीज़को ज़रूरतसे ज्यादा महत्त्व देकर स्थान परिवर्तनकी खटपटमें पडना आवश्यक नहीं। हवामें होनेवाले हेर-फेरके साथ जगहकी हेरा-फेरीका खयाल हास्यास्पद और अव्यावहारिक है। औरोकी तरह क्षयका बीमार भी मौसिमी परिवर्तनोको बरदाश्त करना सीख जाता है।

"क्षयरोगीको यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि उसके तन्दुरुस्त होनेका सारा दारोमदार सिर्फ मौसिमी परिवर्तनोंपर नहीं है। अगर वह रोग मिटानेके आधुनिक तरीक़ो पर दिलसे अमल करता है, तो अकेले वातावरणमे ऐसी कोई चीज नही है, जो उसकी बीमारीमें खराबी पैदा करे।" (पोटेञ्जर)

ताजी और खुली हवाकी जितनी उपयोगिता और आवश्यकता स्वस्थ मनुष्यके लिये है, उससे ज्यादा क्षयरोगीके लिये है। उससे जो फायदे तन्दुरुस्त आदमीको होते हैं, वे उसे भी होते

है, लेकिन उनके सिवा बीमारको कुछ और लाभ भी होता है, जैसे, अक्सर उसका बुखार उतर जाता है या कम हो जाता है, और रोगके दूसरे कई लक्षण दबने लगते हैं। क्षयके बीमारको हवासे डरना न चाहिये। घरमें रहते समय उसे चारों ओरसे बन्द सन्दूकनुमा कमरेमें न रहकर किसी ऐसे कमरेमें रहना चाहिये, जहाँ ज्यादा-से-ज्यादा हवा आती हो। जिस कमरेमें हवाके आने-जानेका पूरा प्रबंध नहीं होता, उसमें रहनेवालेका सिर गरम और पैर ठण्डे रहने लगते हैं लेकिन दरअसल जरूरत यह है कि सिर ठण्डा और पैर गरम रहें। चंचल या तेज हवा उपयोगी है, लेकिन सनसनाती हुई जोरदार हवा नुकसान पहुँचाती है, इसलिये कमरेमें रहते समय पलग, खाट या कुर्सी वगैरा ऐसी जगह लगाने चाहियें, जहाँ हवाके झकोरे सीधे आकर न लगें। खिडकियोंमें छोटे-छोटे महीन पर्दे लगा रखनेसे भी हवाका जोर कम हो जाता है।

ऊपर हवाका त्वचाके साथ जो संबंध बताया गया है उस परसे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है, कि क्षयके बीमारोंको और दूसरे लोगोंको भी जरूरतसे ज्यादा कपडे पहनने या ओढ़ने न चाहियें। इससे नुकसान ही होता है।

ताजी हवा जितनी दिनमें ज़रूरी है, उतनी ही रातमें भी। रात नींदमें शरीरके अन्दर मरम्मतका जो काम खास तौर पर होता रहता है, ताजी हवा न मिलनेसे उसमें रुकावट पड सकती है। रातकी हवा दिनकी हवासे किसी तरह घटिया नहीं होती, उससे डरनेकी कोई ज़रूरत नहीं। अक्सर रातमें सर्दी ज़्यादा होती है, इसलिये उसके हिसावसे कपडोंमें ज़रूरी हेर-फेर कर लेने पर नुकसानका कोई डर नहीं रह जाता।

यूरोप-जैसे देशोंमें जब कड़ाकेकी सर्दी गिरती है, तो वहाँ क्षयरोगीके लिये आमतौर पर चौबीसों घण्टे खुलेमें रहना मुमकिन नहीं होता। हमारे यहाँ गरमियोंमे सख्त गरमी पड़ती है, इसलिये उस ऋतुमें दिनभर और बारिशमे बारिशके समय खुलेमें रहना सधता नहीं। लेकिन सख्त गरमीमे भी दिनके कुछ घण्टे छोड़कर बाक़ी सुबह-शामके ठण्डे समयमे और रातको भी हवाके झोंकोसे बचते हुए खुलेमे रहा जा सकता है। हवाके तेज़ झोंकोंकी तरह ही धूपसे बचना भी जरूरी है। धूप और सनसनाती हवासे बचनेके लिये खुलेमें जरूरतके मुताबिक़ थोड़ी आड़ और छायाका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। कमजोर शरीरको धूपसे लाभके बदले हानि होती है। सिर्फ जाड़ोंमें, जब कड़ाकेकी सर्दी पड़ती हो, सुबह-शाम कुछ देरको धूपमें बैठ लेनेसे बदनमे गरमी आ जाती है। धूपके बारेमें आगे 'प्रकाश' वाले परिच्छेदमें कुछ खास बाते और लिखी जायँगी।

हमने देखा कि हवा कितनी उपयोगी है; लेकिन हवामे और आँधीमें बड़ा भारी फर्क है। हवा खानेमें अति होनेका कोई डर नहीं; लेकिन आँधीके झकोरोंका सामना करनेसे नुक़सानका पूरा डर है। आरामके रास्ते पर लगी हुई तबीयत झोंकोंकी चपेटमें आकर बिगड़ जाती है और इलाज कराना भारी हो पड़ता है। धीमी हवाका सेवन करना उचित है, लेकिन ज़ोरकी सनसनाती हुई हवासे बचनेमें भलाई है।

दिनके २४ घण्टोंमेंसे जितने घण्टे खुली हवामे रहनेको मिलें, उतना ही फायदा है; लेकिन इसमे समझदारीसे काम लेना चाहिये। बीमारकी सहनशक्तिके अनुसार छाया वगैराका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। हरएक बीमार खुली हवासे एकसाँ लाभ नहीं उठा सकता,

प्रवन्ध ऐसा होना चाहिये कि जिससे हरएकको अधिक-से-अधिक लाभ मिले। जब खुली हवामें रहना मुमकिन न हो, तब भी ताज़ी हवावाली जगहमें तो रहना ही चाहिये—बिना उसके काम चल नहीं सकता।

हवाका विचार करते समय जुकाम या सर्दीका खयाल तुरन्त आता है। जो लोग ताज़ी और खुली हवामें रहते हैं, उन्हें जुकामकी शिकायत शायद ही कभी होती है, अगर कभी होती भी है, तो वह हवाकी वजहसे नहीं. बल्कि किसी और वजहसे ही होती है। जो बन्द और बासी हवामें रहते हैं, उन्हें जुकाम ज़्यादा होता है। बन्द हवामें शरीर अधिक गरम रहता है, ऐसे में जब किसी कामसे बाहर जाना पडता है, तो बाहरकी सर्दीवाली हवाका असर बुरा पडता है और जुकाम हो जाता है। जुकामसे बचनेके लिये खुली और ताजी हवाका त्याग करनेकी ज़रा भी ज़रूरत नहीं।

जिस तरह ज़ोरकी सनसनाती हवा मना है, उसी तरह गरम हवा भी मना है। गरमियोंमें जब लू चलती हो, तो उससे बचना चाहिये। सख्त गरमीके दिनोंमें नीचे लिखा बन्दोबस्त रखनेसे हवाकी गरमी कम सताती है और बेचैनी या घबराहटसे छुटकारा मिलता है. घरके अन्दर रहना, पखेका उपयोग करना, कमरेके फर्श पर पानी छिडकना, खिडकियोंमें घास और खसकी टट्टियाँ बाँध उन्हें पानीसे तर रखना, समय-समयसे कपाल पर गीले कपडेकी पट्टी रखना, या मिट्टीको साफ करके छान लेना, उसमें पानी मिलाना, और पानी मिली मिट्टीके पिंडको कपडेपर फैलाकर अलसीके पुल्टिसकी तरह उसे ललाट पर रखना, वगैरा-वगैरा।

१२

प्रकाश

सूर्य संसारका प्राण है; वैदिक ऋचामें उसका वर्णन प्राणो वै सः के रूपमें किया गया है। अगर सूरज न हो, तो सृष्टिका अन्त हो जाय; हवा साफ़ न रहे; दुनियाको निर्मल पानी न मिले; अन्न और फल न पकें; वनस्पतिका विकास न हो; संसारकी प्रगति रुक जाय — विकास थम जाय। दुनियाकी सारी हलचलें, सारे कामकाज, समस्त स्फूर्ति सूरजकी वजह से है। सूर्य सृष्टिकी शक्तिका एक अक्षयपात्र है, जगत्का वह सूत्रधार है।

प्रकाश शरीरको क्षीण होनेसे रोकता है, ग्लानिका नाश करता है, मनको प्रफुल्लित रखता है, जीवनको आनन्दमय बनाता है, उत्साह बढाता है, अन्तःकरणको तृप्ति और शान्तिप्रदान करता है। जहाँ प्रकाश है, वहाँ उल्लास है; जहाँ अंधकार है, वहाँ उद्वेग है। प्रकाशकी अवगणना करके अँधेरी खोहमें रुँधे रहनेसे निस्तेजता, निर्बलता और खिन्नता ही पल्ले पड़ती है।

उजेला और धूप दोनों सूरजके कारण हैं; फिर भी दोनोमें जो भेद है, वह वास्तविक है और व्यवहारमें कामका है। सुबह-शाम दोनों समयकी संध्याके वक़्त सब जगह उजेला रहता है; सूरजके उगने पर खुली जगहोंमें धूप आ जाती है, छायावाली जगहोंमें उजेला छा जाता है। उजेला सबके लिये ज़रूरी है; वह रोगीको भी चाहिये और नीरोगको भी, अगर उजेला न हो, तो

सबको बडी परेशानी उठानी पडे। उजेला जितना ज्यादा होता है, उतना ही अच्छा रहता है। क्षयका बीमार अँधेरेमें रह नहीं सकता; अगर रहता है, तो उसके क्षयमुक्त होनेकी संभावना नामको ही रह जाती है। जो रोगी खुलेमें रह पाता है, उसे आवश्यक उजेला आसानीसे मिल जाता है। जब घरमें रहना पडे, तो उसे सबसे ज्यादा उजेलेवाले कमरेमें रहना चाहिये। उजेलेके मारफत सूरजका फायदा चुपचाप मिलता रहता है। जहाँ इससे फायदा उठानेमें आलस्य या लापरवाही की जाती है, वहाँ तन्दुरुस्त होनेका समय टल जाता है। खुलेमें किसी पेडकी छाया तले या जैसे घटादार और छायादार पेड न हो, तो घास-फूसके छप्परकी छायामें रहनेसे उजेलेका लाभ ठीक-ठीक मिल सकता है। इसमें अतिशयताकी कोई संभावना नहीं रहती।

किन्तु, धूपकी बात ऐसी नहीं है। कई लोग क्षयवालोंको धूपमें पडे रहनेकी सलाह देते हैं, लेकिन वह खतरनाक है।

सूर्यस्नान द्वारा कई तरहकी बीमारियोंको मिटानेका एक तरीका चालू है। इस स्नानकी अपनी विधि है, उस विधिको छोडकर चलनेसे तकलीफ ही होती है। सूर्यकी जामुनी किरणें सुखप्रद मानी जाती हैं, ये किरणें नंगे शरीर पर पडकर भी शरीरके अन्दर गहरी नहीं उतर पातीं। इनका जो भी असर पडता है, वह चमडी तक ही रहता है, और चमडीके ज़रिये, अप्रत्यक्ष रूपसे, सारे शरीर पर पडता है। सूर्य-किरणसे फायदा उठानेके लिये शरीर पर कपडे न रहने चाहियें, क्योंकि कपडोंको भेद कर शरीर पर असर डालनेकी शक्ति किरणोंमें नहीं होती। किरणोंका लाभ तभी मिलता है, जब वे सीधी नंगे शरीर पर पडती हैं। कपडे पहनकर धूपमें बैठनेसे लाभ रत्तीभर भी नहीं होता, नुकसान

कई होते हैं, शरीर गरम और सिर भारी हो जाता है, बेचैनी पैदा होती है। गरमी लगनेका पूरा-पूरा डर रहता है। सब कोई जानते हैं कि जब सिरमें गरमी चढ़ जाती है या लू वगैरा लग जाती है, तो अच्छे तन्दुरुस्त आदमी भी अचानक मरते देखे जाते हैं। शरीरके किसी खास हिस्से पर किरणोकी सेंक लेनेसे शायद ही कभी फायदा होता है। हवाकी लहरें सिरपर और मुँहपर लहराती हैं, तो एक स्फूर्ति-सी मालूम होती है, लेकिन अगर उन्हीं स्थानों पर सूरजकी सीधी किरणे ली जायँ, तो बेचैनी पैदा हो जाती है। बिलकुल नग्न रहकर किरण-स्नान करनेके लिये भी शरीरको क्रम-क्रमसे उसकी आदत डालनी पडती है।

क्षयके कीटाणुओसे 'ट्युबर्क्युलिन' नामकी जो दवा इंजेक्शनके लिये तैयार की जाती है, उसकी पिचकारी लगवानेसे रोग एकदम भड़क उठता है और अगर उसकी मात्रा ज्यादा होती है, तो रोगका ज़ोर लम्बे अर्से तक रहता है, और अकसर हमेशाके लिये बुरा असर पैदा कर जाता है। सूर्यकी किरणोंसे भी ऐसा ही कुछ होनेकी संभावना रहती है। बिना किसी अनुभवीकी सहायताके उसका प्रयोग कभी न करना चाहिये।

दूसरे रोगोकी चिकित्सामें भी सूर्यकिरणका प्रयोग करते समय पूरी सावधानी रखनी पडती है, क्षयरोगमे तो उसके लिये बहुत ही कम गुंजाइश है। क्षयका बीमार बहुत ज्यादा कमज़ोर हो चुकता है, और उसके शरीरकी स्थिति बहुत नाजुक बन जाती है। जब रोग जोर पर होता है, तब शरीरमें बुखार भी रहता है, और उस हालतमें तो बीमारको आरामकी ज़रूरत रहती है। उसकी चिकित्सामे उग्र उपाय किसी काम नहीं आते। अगर बुखारकी हालतमे उसे धूपमे बैठाया जाता है, तो रोग उभडता है: यानी

बुखार बढ जाता है, नाडी जोरसे चलने लगती है, साँसकी गति तेज़ हो जाती है, भूख घट जाती है, अकुलाहट और बेचैनी पैदा होती है, और रोगके विषकी गति धीमी पडनेके बदले तेज़ हो जाती है। फेफडोंके क्षयमें बुखारके जोरसे रोगका जोर मालूम होता है, और रोलियर उस हालतमें सूर्यस्नान करनेकी सलाह बिलकुल नहीं देता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्षय-रोगीके शरीरमें गरमीकी उत्पत्ति और निवृत्तिकी क्रिया छिन्न हो जाती है, सूर्यस्नान द्वारा गरमी बढाकर उसे और अधिक छिन्न-भिन्न न करना चाहिये। क्षयके दुर्बल रोगीके पास कडे प्रयोगों द्वारा शरीर-निर्माण करनेका अवसर नहीं होता, प्रयोग करके धूपके कडुए फल चखनेमें कोई लाभ नहीं।

१३

आहार

क्षयरोगकी उत्पत्तिके अनेक कारणोंमें आहारदोष एक महत्त्वका कारण है। बहुतोंको पैसे-टकेकी तंगीकी वजहसे पूरा और पुष्टिकारक आहार हमेशा नहीं मिलता; और चूँकि आज समाजमें पैसेका ही बोलबाला है, इसलिये औसत आदमीको खाने-पीनेकी शुद्ध और साफ चीज़ें प्राप्त करनेमें कठिनाई और महँगीका सामना करना पड़ता है। इससे शरीरकी जीवनीशक्ति जितनी रहनी चाहिये उतनी प्रबल रह नहीं पाती, और रोगोंको शरीरमें प्रवेश करनेकी अनुकूलता प्राप्त हो जाती है। आज मामूली हैसियतवाले या मध्यवित्त परिवारोंमें क्षयका जो इतना प्रसार हुआ है, उसके कारणोंमें आहार-दोषका हाथ कम नहीं है। उधर पैसे-टकेसे सुखी लोग अपनी शरीरप्रकृतिके प्रतिकूल अति आहार-विहारमें पड़कर अपनी शारीरिक शक्तिको निर्बल बना डालते हैं।

चूँकि क्षयरोगमें शक्तिका ह्रास बहुत ज़्यादा होता है, इसलिये उसे रोकने और शक्ति बढ़ानेके लिये आहारकी कमियोंको दूर करनेका काम क्षयचिकित्साका एक ज़रूरी अंग बन जाता है। क्षयका बीमार पंचगनी जैसे बढ़िया प्रदेशमें जाकर न रहे तो काम चल सकता है, लेकिन सब तरहसे अनुकूल आहार या ख़ूराकके बिना काम नहीं चल सकता।

क्षयके इलाजमें किसी खास तरहकी ख़ूराककी ज़रूरत नहीं रहती। जरूरत सिर्फ यह रहती है कि जो कुछ खाया जाय, वह

पर्याप्त, उचित और पुष्टिकारक हो। खानेकी चीज़ें सभी शुद्ध, साफ, भलीभाँति पकी हुई, रुचिके माफिक और आसानीसे खाने लायक होनी चाहियें।

क्षयरोगीको दिनभर खाऊँ-खाऊँ करते रहनेकी कोई ज़रूरत नहीं, बल्कि इससे उसे बेहद नुकसान होता है। शरीरको ताकतवर बनानेके लिये बेहद खानेकी बात सोचना गलत और हानिकारक है। ताकत बढ़ानेके लिये तो अच्छा, सादा और पूरा आहार, ताज़ी हवा, आराम. और नियमत कसरत ही उपयोगी है। बहुत ज्यादा खानेकी आदत हाज़मेको हमेशाके लिये बुरी तरह बिगाड़ देती है। यह ज़रूरी नहीं है कि जो लोग मोटे और वज़नदार होते हैं, वे सब ताकतवर भी हों। बेहद वज़न बढ़ाना आहारका उद्देश्य न होना चाहिये। इसी तरह क्षयके बीमारको न तो भूखों रहनेकी जरूरत है, न अपनी शक्तिसे कम, यानी आधापेट खानेकी जरूरत है। बुखार रहे या न रहे, अपनी रुचि और भूखके अनुसार खानेमें कोई हर्ज नहीं, बल्कि उससे शक्तिके ह्रासकी गति कम होती है, और आरामके कारण रोगका विष ज्यों-ज्यों दबता है, त्यों-त्यों अन्नकी रुचि और भूख खुलती है और धीमे-धीमे आहारकी मात्रा भी ठीक हो जाती है। इस बातका कोई आम नियम नहीं बनाया जा सकता कि बीमारको कितना और कैसा आहार करना चाहिये; सिर्फ यही कहा जा सकता है कि इतना न खाना चाहिये कि जिससे अजीर्ण हो जाय; जो कुछ खाया जाय, वह हज़म हो जाना चाहिये और उससे बेचैनी या घबराहट बढ़नी अथवा पैदा होनी न चाहिये। क्षयरोगीके अच्छे होनेका बहुत-कुछ आधार उसकी पाचनशक्ति पर रहता है। वह जितनी अच्छी रहेगी और रक्खी जायगी, उतना ही लाभ होगा; अगर उसका जतन करनेमें गफलत हुई तो बेहद नुकसान हो सकता है।

चूँकि यह बीमारी लम्बी होती है, बीमार बार-बार उकता जाता है, खानेमें अरुचि प्रकट करता है, कम खाता है या भूखों रहता है। लेकिन इससे अन्तमें नुक़सान होता है। जो चीज़ रुचिके साथ खुशी-खुशी खाई जाती है, स्वास्थ्य पर उसका असर भी बहुत अच्छा पड़ता है। जिस तरह बोरेमें नाज भरा जाता है, उस तरह पेटको अन्नसे सिर्फ़ भरना ही नहीं है। बीमारको ऐसी कोई चीज़ बनाकर न देनी चाहिये, जिसके कारण उसे अन्नमात्रसे अरुचि हो जाय। अन्नको पचानेके लिये शरीरके अन्दर जो रस पैदा होता है, उसपर मनका प्रभाव जैसा-तैसा नहीं होता, मनको अन्नसे अरुचि न हो जाय, इसका ख़ास तौरपर खयाल रखना चाहिये। खाते समय मन शान्त और प्रसन्न रहना चाहिये और धीमे-धीमे ख़ूब चबा-चबाकर खाना चाहिये। इंग्लैण्डके मशहूर प्रधानमंत्री मि० ग्लैडस्टन इसी तरह खाते थे और खानेमें जो देर लगती थी, उसकी ज़रा भी पर्वा न करते थे। अगर एक बड़े भारी साम्राज्यके कर्णधारको खानेके लिये वक़्तकी कमी नहीं रहती, तो आराम करनेवाले तपेदिकके बीमारको तो उसकी बिलकुल ही कमी या तंगी न रहनी चाहिये। उसे एक हाथमें घड़ी रखकर दूसरे हाथसे जल्दी-जल्दी भकोसनेकी कोई ज़रूरत नहीं। यह तो है नहीं, कि बंबईके उपनगरवालोंकी तरह उसे झटपट खाकर रेलगाड़ीके लिये दौड़ना पड़ता हो।

क्षयके इलाजकी सफलताका आधार बहुत-कुछ नियमपालन पर है, और आहारके बारेमें नियमकी सख्त ज़रूरत है। थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार खानेकी इच्छा हो सकती है, लेकिन उसे हमेशा रोकना चाहिये। पेटको आराम देना चाहिये, दिनभर पेटमें कुछ-न-कुछ डालते रहनेसे पेटका यंत्र भी थक जाता है और

आखिर बेकार हो जाता है। कारखानोंकी कलोंको आराम दिया जाता है, रेलगाडीके इंजनको भी कुछ मीलोंकी यात्राके बाद आराम दिया जाता है, घोडेको भी आराम मिलता है, लेकिन लोग अकसर यह भूल जाते हैं कि पेटको भी आरामकी ज़रूरत रहती है। क्षयरोगीको ऐसी भूल न करनी चाहिये। उसे रोज़ ठीक समय पर ही खाना खा लेना चाहिये, और भोजनसे पहले व भोजनके बाद आध घण्टा आराम करना चाहिये। इससे भूख बढ़ती है और हाज़मा ठीक होता है।

अगर दिनमें दो बार भोजन किया जाय और दो-तीन बार दूध लिया जाय, तो आमतौर पर बीमारको भरपूर खुराक मिल जाती है। जाड़ोंमें भूख ज़्यादा और अच्छी लगती है, गर्मियोंमें भूख कम हो जाती है। सुबह-सुबह दूध, दुपहरसे पहले भोजन, दुपहरको दूध, साँझको भोजन और रात दूध लिया जाय, तो भोजनका क्रम सब मिलाकर बहुत-कुछ संतोषजनक हो जाता है। लेकिन हरएक बीमारको एक ही क्रम माफिक नहीं आता, जब जैसी ज़रूरत हो, उसमें हेर-फेर कर लेना चाहिये। पश्चिमके सर्द देशोंकी तरह भरी दुपहरीमें, जब कि हमारे यहाँ ज़्यादा-से-ज़्यादा गर्मी पड़ती है, भोजन करनेकी प्रथाको अपनानेसे हमें तो नुकसान ही होता है।

शरीरके अन्दर कई अवयव हैं. हृदय,[1] फुफ्फुस,[2] प्लीहा,[3] यकृत,[4] वगैरा। ये सब अवयव बहुत ही सूक्ष्म ततुओंके बने होते हैं। यन्त्रके अपने अलग-अलग हिस्से रहते हैं, लगातार उपयोगसे जब ये हिस्से घिस जाते हैं. तो इन्हें निकालकर नये बैठाने पड़ते हैं, इसी तरह शरीरके अंदर भी अवयवोंके जो तन्तु लगातार उपयोगसे घिसते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और उनकी

---

१. दिल, २. फेफड़े, ३. तिल्ली, ४. जिगर।

जगह नये तन्तु बनते हैं। शरीरके अंदर यह क्रिया रात-दिन होती रहती है और इसके लिये पोषण आवश्यक है। इंजन-जैसे यंत्रको तैयार करके चलानेके लिये कोयला, पानी और आगकी ज़रूरत रहती है; शरीरको भी उष्ण पदार्थोंकी और मेद या चर्बीकी ज़रूरत रहती है। अन्नके ज़रिये शरीरको सब तरहके पोषक द्रव्य, उष्ण द्रव्य, चर्बी और कई तरहके क्षार मिला करते हैं। शरीरको पानीकी ज़रूरत रहती है, और ताकत पहुँचानेवाले तत्त्वोंकी भी ज़रूरत रहती है। अंग्रेज़ीमें ये तत्त्व विटामिन कहलाते हैं। जब अन्नमें पोषक द्रव्य होते हैं, पर विटामिन नहीं होते, तो शरीर कमजोर हो जाता है। ये सभी द्रव्य या पदार्थ मनुष्यके खाने-पीनेकी चीज़ोंमें अलग-अलग मात्रामें पाये जाते हैं। गेहूँ, चावल, ज़ुवार, बाजरी, अरहर वग़ैरामें, जो हमारे खानेकी चीज़ें हैं, ये तत्त्व रहते हैं। द्विदलमें भी ये पाये जाते हैं; लेकिन उनमें गेहूँ, चावल वग़ैराकी अपेक्षा न पचनेवाले अंश ज्यादा होते हैं, और इसीलिये उन्हें पचाना अकसर मुश्किल हो जाता है। हमारे आहारमें आमतौर पर जो चीज़ें भारी यानी देरमें हज़म होनेवाली या ज्यादा गरम मानी जाती हैं, क्षयके बीमारको उनका उपयोग कम करना चाहिये। केवल जीभके स्वादको संतुष्ट करनेके लिये जठराग्निको कमज़ोर बनानेवाली या बदहज़मी पैदा करनेवाली चीज़ें खानेमें कोई लाभ नहीं। नाजमें गेहूँ एक उत्तम नाज है, क्षय-रोगीके आहारमें इसकी मात्रा मुख्य होनी चाहिये। लेकिन बड़ी-बड़ी पनचक्कियोंमें पिसे हुए बाज़ारू आटेका कभी इस्तेमाल न करना चाहिये; बाज़ारमें आटेको ज्यादा वक़्त तक टिकाने और सड़नेसे बचानेके लिये उसका सारा रस व कस निकाल डाला जाता है, और इस तरहका बेकस आटा शरीरका निर्माण करनेमें निकम्मा होता है।

नाजकी तरह ताज़ा साग-सब्ज़ी भी आवश्यक है, उनसे विटामिन ज्यादा मिलता है। अगर छातीमें कफ ठँस न गया हो या ऐसे ही दूसरे कोई कारण न हों, तो बिना खटाईवाले ताज़े फल भी खाये जा सकते हैं।

ताज़ी हवाकी तरह खानेकी चीज़ें भी हमेशा ताज़ी होनी चाहियें। बासी अन्न और बासी साग-सब्ज़ीसे शरीरकी ताज़गी और स्फूर्ति नहीं बढाई जा सकती। इसी तरह बहुत ठण्डा या बहुत गरम आहार भी निरुपयोगी है।

खाँसी पैदा करने या बढ़ानेवाली चीजका त्याग करना चाहिये। क्षयके बीमारको आरामके ज़रिये जो लाभ मिलता है, वह खाँसीके बढ़ जानेसे फिर उतना नहीं मिल पाता। खाँसी फेफडोंके लिये एक तरहकी सख्त कसरत हो जाती है। उसे जान-बूझकर बढाना उचित नहीं। इसके लिये तेल, मिर्च और सुपारी वगैराका खास तौर पर त्याग करना चाहिये और खटाई भी छोडनी चाहिये।

नाज और साग-सब्ज़ी ज़रूरी हैं, लेकिन उनसे भी ज्यादा ज़रूरी दूध, घी और मक्खन हैं। बिना इनके ख़ुराकमें कोई सत्त्व नहीं रहता। ये चीज़ें भी मर्यादामें रहकर खानी चाहियें— इतनी न खा लेनी चाहियें कि बदहज़मी पैदा हो जाय। जैसे, आगसे शरीर गरमाता है, लेकिन आगके कुण्डमें बैठ जानेसे तो खाक हो जाना पडता है।

दूधको उबालनेसे वह भारी हो जाता है, उसके पोषक द्रव्य जल जाते हैं या घट जाते हैं। ठण्डे दूधको सीधे चूल्हे पर चढ़ाकर उबालनेके बजाय दूधके ढँके हुए बरतनको चूल्हे पर उबलते हुए पानीके बरतनमें चन्द मिनट रखकर दूध तपा लिया

जाय और फिर उसे तुरन्त ही ठण्ढा कर लिया जाय, तो उसके स्वाद व शक्तिमें कम-से-कम कमी होती है और विजातीय द्रव्य सब नष्ट हो जाते हैं। दूधको बार-बार गरम करनेसे उसका सत्त्व जल जाता है, इसलिये उसे दुबारा चूल्हे पर न चढ़ाना चाहिये। उसकी ठण्ढ उड़ानेके लिये दूधके बरतनको उबलते पानीमें रखना चाहिये। इससे दूध आवश्यकतानुसार गरम हो जाता है, और उसके पोषक द्रव्योंको कम-से-कम नुकसान पहुँचता है।

मक्खनका पूरा लाभ तभी मिलता है, जब वह घर पर रोज़-रोज़ ताज़ा बना लिया जाता है। बाज़ारका और खासकर डब्बेका मक्खन किसी कामका नहीं होता।

चाय-कॉफी वगैराका उपयोग जितना कम किया जाय, उतना ही अच्छा है। तेज़ या कड़ी चाय व कॉफीका तो त्याग ही करना चाहिये। चाय-कॉफीसे पाचनशक्ति मन्द पड़ती है; अन्नके साथ ये चीज़ें न लेनी चाहियें; इसी तरह भोजनके साथ सादा पानी भी न पीना इष्ट है। तम्बाकू और बीड़ीका भी त्याग करना चाहिये।

यह सवाल बार-बार उठता है कि क्षयके बीमारको स्वस्थ होनेके लिये मांसाहारी बननेकी ज़रूरत है या नहीं, अथवा मांसाहारी बने बिना अच्छा हुआ जा सकता है या नहीं? जिन देशोंमें लोग आमतौर पर मांस खाते हैं, वहाँ भी मांसका त्याग करनेवाले लोग हैं, इसलिये वहाँवालोंने भी इस सवाल पर विचार किया है।

मांसाहारमें क्षयको वशमें करनेका कोई चमत्कार नहीं। बिना आरामके क्षय अच्छा नहीं होता; लेकिन मांसाहारमें ऐसा कोई गुण नहीं है। इस सम्बन्धमें बाड़सवेलकी राय यह है कि जिनको मांसाहारके बारेमें दिली एतराज़ है, वे उसके बिना भी अकेले अनाजसे अपना काम चला सकते हैं, और 'क्षय-सागर' के पार

उतर सकते हैं। क्षयरोगके इलाजका मतलब है, रोगीकी दिनचर्याको सुव्यवस्थित बनाना; इसके लिये रोगीके पूर्वजीवनकी दिनचर्यामें मात्र आवश्यक परिवर्तन ही किया जाय, तो रोगके लिये उस परिवर्तनको अपनाना आसान हो जाता है।

जिस आहारसे तन्दुरुस्तीकी हालतमें शक्ति और पोषण मिलता है, क्षयरोगीके लिये वह आहार काफी है। विना मांस खाये सशक्त और नीरोग रहनेके लिये गेहूँ-जैसे नाजकी, साग-सब्ज़ी की और दूध, घी व मक्खनकी ज़रूरत रहती है। बीमारीसे पहले लिये जानेवाले आहारमें जो त्रुटि या कमी होती है, उसे मिटाने जितना परिवर्तन आवश्यक और उपयोगी है। अगर बीमारीसे पहले रोगीको दूध न मिलता हो, या वह नियमित रूपसे साग-सब्ज़ी न लेता हो, अथवा उसकी ख़ुराकमें गेहूँकी मात्रा कम हो, तो बीमारीके दिनोंमें इसमें आवश्यक हेर-फेर कर लेना चाहिये। आजकल मांस खानेवालोंको भी गरम देशोंमें मांस कम खानेकी सलाह दी जाती है। रोलियर स्विट्जरलैण्ड-जैसे ठण्डे देशमें सूर्य-स्नानसे दूसरे रोगोंकी चिकित्सा करते समय मांसका कम-से-कम उपयोग कराता है, और वहांकी गर्मियोंमें तो वह ख़ास तौर पर नाजका ही आहार करनेकी सलाह देता है।

जिस बीमारको मांस खानेकी आदत नहीं है, उसे मांस खानेके लिये मजबूर करनेसे उसकी मनोदशाका अनादर ही होता है। जिस तरह किसी वैज्ञानिककी प्रयोगशालामें पशु-पक्षियोको उनकी इच्छाका विचार किये विना केवल प्रयोगके विचारसे खिलाया जाता है, उसी तरह क्षयके बीमारको भी खिलानेकी कोशिश करनेमें बीमारको तकलीफ होती है, और इसमें तो कोई शक नहीं कि इसका नतीजा बुरा होता है।

आजकल क्षयका नाम लेते ही या उसकी शंका आते ही कॉड्लिवर ऑईलका नाम सबसे पहले ज़बान पर आता है। इसकी उपयोगिता और आवश्यकता ज़रूरतसे ज़्यादा मान ली गई है। हमारे यहाँ यह अनिवार्य मान लिया गया है, जब कि पश्चिमी देशोंमें वैसा नहीं है। कॉड्लिवर तेलका हिमायती फाउलर भी उसके उपयोगकी मर्यादाका ज़िक्र इस तरह करता है: "बुखारकी हालतमें या शामको जब तेज़ बुखार रहता हो और बदहज़मी हो, तब यह तेल नहीं लेना चाहिये। इसी तरह जो बीमार इसे लेनेमें स्पष्ट अरुचि बतावे, उसे इसके लिये मजबूर करनेमें बुद्धिमानी नहीं है। अथवा जिस बीमारको मतलीकी शिकायत हो या मांससे घिन मालूम होती हो, या जिसकी भूख कम हो गई हो, उसे तो यह 'हरगिज़' न देना चाहिये। बुखारकी हालतमें इस तेलका कोई असर नहीं होता।" स्पष्ट है कि हमारे यहाँ कॉड्लिवर तेलके हिमायतियोंकी यह मर्यादा भी कई बीमारोंके मामलेमें तोड़ दी जाती है। जिस तरह इस विकट बीमारीकी चिकित्सा किसी ऊँचे स्वास्थ्यप्रद प्रदेशमें न जाने पर भी बराबर हो सकती है, उसी तरह इस तेलके बिना भी उसका काम बख़ूबी चल सकता है— कोई खास नुक़सान नहीं होता।

क्षयरोगीके लिये घीके मुकाबले मक्खन ज़्यादा उपयोगी है। उससे कॉड्लिवर ऑईलकी ग़रज़ पूरी होती है। मक्खन इस तेलके मुक़ाबले ताज़ा होता है, और तेलकी तरह ही वज़न व ताक़त बढ़ानेके काम आता है। क्षयके बीमारकी खूराकमें इसको स्थान देना चाहिये। फिशवर्ग लिखता है: "अनुभवसे मुझे पता चला है, कि हमारे कामके लिये मक्खन एक बढ़िया चीज़ है। उससे कॉड्लिवर ऑइलके समान ही अच्छा नतीजा निकलता है।"

१४

वस्त्र

सभ्य जातियोंमें कपडोंके उपयोगका रिवाज बहुत पुराना है। कपडोंका मुख्य उपयोग शरीरको सजानेका है, या सर्दी-गर्मीसे उसकी रक्षा करनेका, इसकी चर्चाका यह स्थान नहीं। शरीर कितना ही कसा हुआ क्यों न हो, अगर उसे भरपूर खुराक नहीं मिलती, तो वह सर्दी बरदाश्त नहीं कर सकता। जब खानेको कम मिलता है, तो कपडोंकी ज्यादा ज़रूरत रहती है, और जब दोनोंकी कमी होती है, या जब दोनों भरपूर नहीं मिलते, तो दूसरे उपायोंसे काम लेना पडता है। सर्दीसे बचनेके लिये अलाव जलाने या सिगडी तापनेका रिवाज सबका जाना हुआ है। एक-दूसरेसे सटकर सोने और शरीरको गरम रखनेकी प्रथा भी प्रचलित है।

कपडोंका अपना उपयोग है, लेकिन उनका दुरुपयोग आसानीसे हो सकता है। बहुत ज्यादा कपडे पहननेसे स्पष्ट ही नुकसान होता है। शरीरके आरोग्यका बहुत-कुछ आधार त्वचा पर और उसकी क्रिया पर है। अन्न और श्रम वगैराके कारण शरीरमें जो अतिरिक्त गरमी पैदा होती है, वह त्वचा या चमडीकी राह बाहर निकलती है, और यों शरीर हलका और हूँफवाला (गरम) रह पाता है। यदि त्वचाकी इस क्रियामें बाधा पडती है, तो शरीर ठण्ढा न रहकर गरम रहने लगता है; इससे शरीरमें एक तरहका भारीपन आ जाता है, शिथिलता मालूम होती है, और मन उदासीसे भर जाता है। कपडोंके ज़रिये जिस तरह बाहरकी

सर्दीसे शरीरकी हिफ़ाज़त की जा सकती है, उसी तरह उनके दुरुपयोगसे शरीरमें ज़रूरतसे ज़्यादा गरमी पैदा हो जाती है। कपड़ोंका उपयोग कुछ इस तरह होना चाहिये कि उनके कारण बाहरकी सर्दी शरीरको ज़्यादा सर्द न बना पाये और अन्दरकी गर्मीसे वह ज़्यादा गरम न हो पाये। बारहों महीने एकसे कपड़े पहननेकी कोशिशसे नुक़सान ही होता है, इससे गर्मियोंमें बेहद बेचैनी और जाड़ोंमें कड़ाकेकी ठण्ढ सहनेका मौक़ा आता है। ऋतुके अनुसार कपड़ोंकी मात्रामें परिवर्तन करना लाज़िमी है। बहुत ज़्यादा कपड़े पहननेसे शरीरमें गर्मी और नमीका अनुभव होता है। और कम कपड़ोंसे शरीर ठिठुरता और रोमांचित होता है। ये दोनों तरीक़े ग़लत हैं। दरअसल शरीर शीतल रहना चाहिये।

जब हवा शरीरका स्पर्श करती है, तो उससे शरीरको फ़ायदा पहुँचता है। कपड़े जिस हद तक हवाको शरीरका स्पर्श करनेसे रोकते हैं, उस हद तक शरीरको हवाका लाभ भी कम मिलता है। अगर बहुत ही गफ़ और मोटे कपड़ेकी पोशाक बनाई जाय, तो उसमेंसे हवाको आरपार जानेका कम-से-कम मौका मिलता है, और शरीरको ताज़ी हवाका स्पर्श भी कम ही मिलता है। जब कपड़ा पतला होता है और उसकी बुनाई गफ़ नहीं होती, तो उसमेंसे हवा ज़्यादा आती-जाती है और शरीरका अधिक स्पर्श कर पाती है। इस दृष्टिसे गर्मियोंमें शरीरको ज़्यादा हवा पहुँचानेवाले और जाड़ोंमें उसे गरम बनाये रखनेवाले, और कम हवा लेनेवाले कपड़े उपयोगी होते हैं।

शरीरको गरम रखनेकी वस्त्रोंकी शक्तिका आधार उनके प्रकार पर निर्भर नहीं है, यानी इस बात पर निर्भर नहीं है कि वस्त्र सूती हैं, ऊनी हैं या पाट-जूटके हैं; इसका आधार

तो शरीर पर और कपडे पर है — यानी कपडेकी वनावट पर और इस वात पर है कि कपडे-कपडेके बीचमें हवा कितनी उलझी और भरी रहती है। इस तरह घुसकर बैठी हुई हवा बाहरकी हवाके मुकाबले ज्यादा गरम होती है, और जवतक वह बन्द और स्थिर रहती है, शरीरको गरमी मिला करती है। कपडे शरीरकी गरमीको सोख नहीं सकते, और शरीर ठण्डा नहीं होता। जाड़ोंमें इस प्रकारकी बन्द हवा स्थिर नहीं रहती, बार-बार बदलती रहती है, इसलिये शरीरको ज्यादा सर्दी मालूम होती है और गर्मियोंमें चूँकि यह बार-बार बदलती नहीं, शरीर पसीजने लगता है। कपडे इतने चुस्त न होने चाहियें कि शरीरसे चिपक जायें और जाडोंमें इतने ढीले न पहनने चाहिये कि वे हवामें फहराते रहें। जब पसीना आता है, तो सूती कपडे बदनसे चिपक जाते हैं और शरीरको ठण्डक पहुँचाते हैं; ऊनी या खुरदरा कपडा गीला होनेपर भी न तो शरीरसे चिपकता है न उसे ठण्डक पहुँचाता है। बहुत ही मुलायम और गफ कपडे और खास तौर पर कलपवाले व तडकीले-भडकीले कपडे अच्छे नहीं माने जाते। ऐसे कपडोंमें हवा आ-जा नहीं सकती, इनके उपयोगसे पसीना ज्यादा निकलता है, और काम-काजमें रुकावट पैदा होती है.

हवाके गुणोंका लाभ शरीरको तभी मिलता है, जब हवा उसका स्पर्श करती है; इसलिये कपडोंका उपयोग ऐसे ढंगसे किया जाना चाहिये कि जिससे हवा त्वचाको सरलताके साथ छू सके। जिस तरह विना खिडकियों और दरवाज़ोंके घर निकम्मे होते हैं, उसी तरह सिरसे पैर तक शरीरको वस्त्रसे ढँके रहना भी खराबी पैदा करता है। ऋतुके अनुसार शरीरके अधिक-से-अधिक हिस्सेको इतना खुला रखना चाहिये कि हवाका स्पर्श

आसानीसे हो सके। जिस तरह सर्दी खा जानेके डरसे घरमें दरवाज़ों और खिड़कियोंकी संख्या कम रखना, या जो हैं, उनको कम खोलना ग़लत है, उसी तरह पहनने और ओढ़नेके कपड़ोंका ज़रूरतसे ज़्यादा उपयोग भी एक ग़लत चीज़ है। पहनने या ओढ़नेके कपड़ोंका उपयोग इस तरह तो हरगिज़ न होना चाहिये कि उनको लेकर शरीरके आसपास एक सन्दूक-सी बन जाय और उसे हवाका स्पर्श भी न हो सके। पहनने और ओढ़नेके सभी कपड़े शरीरको आराम पहुँचानेवाले, ढीले और हलके होने चाहियें।

क्षयके बीमारको हवासे ज़्यादा लाभ उठाना चाहिये। उसे अपने पहनने और ओढ़नेके कपड़ोंकी तादाद पर ख़ास ध्यान देना चाहिये। अच्छा तो यह है कि सोते समय पहनने और ओढ़नेके कपड़ोंका उपयोग कम हो। अगर रातमें सर्दीके अचानक बढ़नेकी सम्भावना हो, तो उसके लिये एकाध रजाई वग़ैरा पैताने ज़्यादा रक्खी जा सकती है, ताकि ज़रूरत मालूम होते ही ओढ़ ली जा सके, और अगर रातमें उठना पड़े, तो उस समय पहननेके लिये पास ही एकाध कपड़ा भी रख लिया जा सकता है, ताकि सर्दी खानेका कोई डर न रहे। ओढ़ने और पहननेके लिये बहुत ज़्यादा कपड़ोंका उपयोग करनेसे शरीर ख़ूब गरम हो जाता है और इस तरह गरम शरीरको जब सर्द हवा लग जाती है, तो ज़ुकामका ख़तरा खड़ा हो जाता है।

१५

ज्वर

सब प्रकारकी बीमारियोंमें प्रायः ज्वरका लक्षण प्रधान माना जाता है। जबतक बुखार नहीं आता अथवा वह उग्र रूप धारण नहीं करता, रोगकी गभीरता कम मानी जाती है और बुखारके नष्ट होने पर रोग नष्ट हुआ अथवा वशमें आया समझा जाता है। क्षयरोगके भी अनेक प्रकट लक्षणोंमें ज्वरका लक्षण मुख्य माना जाता है। उसके बलाबल और प्रकार परसे क्षयके बलाबलका विचार किया जाता है, रोगीके भविष्यका अनुमान लगाया जाता है और चिकित्साकी पद्धति निश्चित की जाती है।

ज्वर रोगका कारण नहीं, किन्तु रोगका परिणाम है। यों शरीरके अन्दर गर्मी तो एक निश्चित मात्रामें सदा ही रहती है। लेकिन खाना खाने पर, परिश्रम या मेहनतका काम करने पर, अथवा क्रोध आदि आवेगोंके कारण ज्ञानतन्तुओंके उत्तेजित हो जाने पर या ऐसे ही अन्य कारणोंसे शरीरकी गर्मी कुछ बढ़ जाती है। आमतौर पर इस प्रकारके नैमित्तिक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली गर्मी कुछ ही देर रहती है, कुछ समय बाद वह कम हो जाती है और शरीर पहलेकी तरह समशीतोष्ण बन जाता है। स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें जितनी गर्मी हमेशा पाई जाती है, वह क्षणिक कारणोंसे रात-दिन अमुक एक मर्यादामें घटती-बढ़ती रहती है, लेकिन जब यह वृद्धि मर्यादासे बाहर हो जाती है और अधिक

समय तक बनी रहती है, तो माना जाता है कि शरीरके अन्दर कोई खराबी पैदा हो गई है; इस खराबीके कारण शरीरमें जो गर्मी मालूम होती है, वही ज्वर कहलाती है।

गर्मी मापनेका यंत्र थर्मामीटर कहलाता है। जो यंत्र हमारे देशमें प्रचलित है, उसमें २१२ अंश (डिग्री) होते हैं, और प्रत्येक अंशके दश बिन्दु या पॉइण्ट माने जाते हैं। पानी ३२ डिग्री पर जमकर बर्फ़ बन जाता है और २१२ डिग्री पर खौलने लगता है। मनुष्यके शरीरकी गर्मी ९५ डिग्रीसे कम और ११० डिग्रीसे अधिक शायद ही कभी होती है। इसलिये शरीरकी गर्मी मापनेके लिये जो थर्मामीटर काममें आता है, उसमें ९५ से ११० डिग्री तकके ही चिह्न रहते हैं। थर्मामीटर पर डिग्रीकी सूचक कुछ मोटी खड़ी लकीरें बनी रहती हैं और दो मोटी लकीरों के बीच चार पतली रेखायें रहती हैं, जो डिग्रीके दो-दो बिन्दु या पॉइण्ट की सूचक होती हैं। थर्मामीटरके एक सिरे पर अतिशय पतले काँचकी नलीमें पारा भरा रहता है। गर्मी पाकर यह पारा फैलता है। फैलनेके लिये यंत्रमें एक ही मार्ग होता है। पारा इसी मार्गसे आगे बढ़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस मार्ग पर अंश और बिन्दु यानी डिग्री और पॉइण्टकी सूचक मोटी-पतली रेखायें बनी रहती हैं। पारा जिस रेखाके सामने आकर रुक जाता है, उस रेखा परसे शरीरकी गर्मीका निर्णय किया जाता है। इस तरह आगेको चढ़ा हुआ पारा फिर अपने आप नीचे नहीं उतरता। उसे उतारनेके लिये थर्मामीटरको झटकेके साथ हिलाना पड़ता है। गर्मी मापनेसे पहले हर बार यह देख लेना चाहिये कि पारा ९५ डिग्रीसे नीचे है या नहीं, अगर न हो तो उसे नीचे ले आना चाहिये।

थर्मामीटरका उपयोग करनेके अनेक तरीक़े हैं। हमारे यहाँ अधिकतर थर्मामीटरको बग़लमें दबाकर गर्मी मापनेका रिवाज है, लेकिन इससे गर्मीका ठीक-ठीक ख़याल नहीं आता, इस तरीकेसे पारा कमसे कम चढ़ता है, और चूँकि क्षयरोगीके इलाजमें तो डिग्री-आधी डिग्रीका फर्क भी महत्त्वका माना जाता है, इसलिये इस तरीके पर विश्वास रखनेसे प्राय: भ्रम पैदा हो जाता है, और कभी-कभी व्यर्थ ही संकटका सामना करनेकी नौबत आ जाती है। यदि थर्मामीटर रखते समय बगलमें पसीना हुआ, या दुर्बलताके कारण थर्मामीटरकी नलीका शरीरकी चमड़ीसे पूरा-पूरा स्पर्श न हो पाया, अथवा पहना हुआ कपड़ा बीचमें आ गया तो पारा पूरी तरह नहीं चढ़ता। थर्मामीटरको बार-बार बग़लमें लगाना भी कठिन होता है और उसे देर तक दबाये रखनेमें तकलीफ भी होती है। विदेशोंमें इस तरीकेसे बुख़ार देखनेका रिवाज नहीं है। क्षयके आरंभमें हर रोज़ चार-चार बार बुख़ार मापना आवश्यक होता है, और चूँकि पारा मिनट-आधे मिनटमें पूरी तरह चढ़ता नहीं, इसलिये रोगीको पाँच-पाँच, दस-दस मिनट तक थर्मामीटर बग़लमें दबाये रहना पड़ता है। ऐसी दशामें यदि रोगी उससे दिक आ जाय और थक जाय तो ताज्जुब नहीं। जब इसी तरीकेसे बुख़ार देखनेका आग्रह रक्खा जाता है, तो प्रायः थर्मामीटरके बग़लमें पूरी तरह न दबनेके कारण बुख़ारका झूठा अंदाज मिलता है।

बुख़ार देखनेका सबसे अच्छा और अनुकूल तरीका तो यह है कि थर्मामीटरके पारेकी नली ज़बानके नीचे दबाकर रक्खी जाय। नलीको जीभके नीचे दबाकर ऊपरसे दोनों होंठ पाँच मिनट तक बंद रखनेसे हमें अपने कामके लिये बुख़ारका सही-सही अंदाज

मिल जाता है। इस तरीक़ेसे बुखार देखनेवालोंको कुछ बातें ध्यानमें रखनी चाहियें। बुखार देखनेसे पहले १० मिनट तक न तो ठण्डा या गरम कोई पदार्थ खाना-पीना चाहिये, न कुल्ले वग़ैरा करने चाहियें और न बोलना चाहिये; इसी तरह मुँह ऐसी जगह पर नहीं रखना चाहिये, जहाँ ज़ोरकी हवा लगती हो। गरम या ठण्डी चीज़ खाने या पीनेसे कुछ समयके लिये गर्मी बढ़ या घट जाती है। जब मुँह पर हवाके ज़ोरदार झकोरे लगते हैं या बोलनेका यत्न किया जाता है, तो उससे भी मुँहकी गर्मी कुछ कम हो जाती है। अगर आप गरम दूध या चाय पीकर तुरन्त गर्मी मापेंगे, तो बुखार न होते हुए भी थर्मामीटरका पारा १०० डिग्री तक चढ़ा नज़र आयेगा। इसी तरह ठण्डा पानी पीकर तुरन्त थर्मामीटरका उपयोग किया जाय, तो पारा कम चढ़ेगा और शरीरकी गर्मीका ठीक अन्दाज़ नही लग सकेगा। इसलिये शरीरकी गर्मीका सच्चा माप जानने के लिये इन दोषोंसे बचनेकी सावधानी अवश्य रखनी चाहिये।

बुखार देखनेका तरीका हमेशा एक ही रखना चाहिये, ताकि घट-बढ़का ठीक अंदाज़ रह सके। रोज़-रोज़के बुखारका लेखा भी रखना चाहिये। इस लेखे या नोंधसे डॉक्टरको इलाज करनेमें मदद मिलती है, और रोगीके भविष्यका कुछ अंदाज भी किया जा सकता है। लेखा रखनेका एक अच्छा तरीक़ा इसके साथके एक चार्टमें समझाया है। चार्टमें आडी और खडी रेखायें खींची हुई हैं। आड़ी रेखासे बुख़ारका पता चलता है और खड़ीसे बुखारके समयका। जितना बुखार हो, उतने बुखारवाली आडी लकीर जहाँ खडी लकीरसे मिले, वहाँ एक बिन्दु बना देना चाहिये और जब दो बारमें दो बिन्दु अलग-अलग बन जायें, तो उन्हें एक लकीरसे

जोड देना चाहिये। इस तरहकी लकीरोंवाले चार्ट बाजारमें तैयार मिलते हैं।
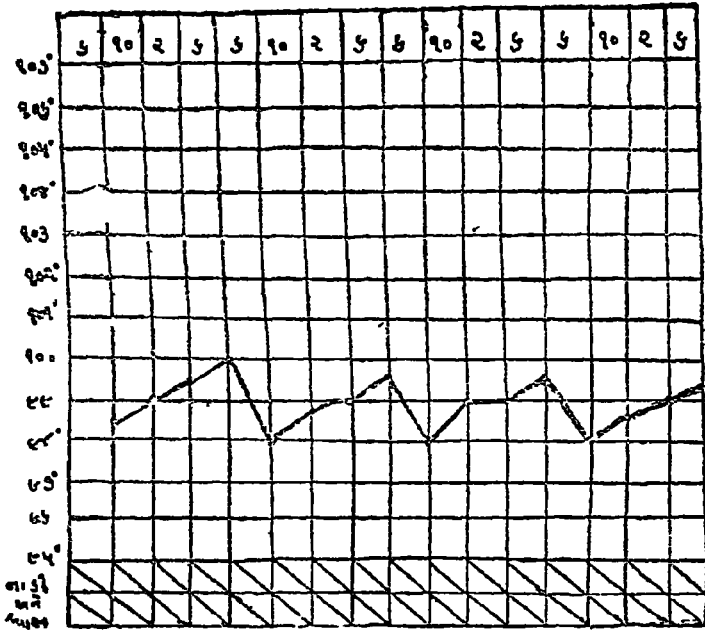
प्रतिदिन बुखार देखनेका समय भी निश्चित होना चाहिये। ओर रोज उसी समय बुखार देखा जाना चाहिये। सुबह उठते ही, दुपहरमे १२ बजे, शामको ५ बजे और रात ९ बजे बुखार देख लेना चाहिये। यह सिलसिला तभी तकके लिये है, जब तक बुखारका ज़ोर रहे; जब बुखार कम हो जाय, तो फिर सुबह शाम दो बार देखनेसे भी काम चलता है। लगानेके बाद थर्मामीटरको धोकर उसके 'केस' में रख देना चाहिये। उसको हमेशा ठण्डे पानीसे ही धोना चाहिये। गरम पानीसे धोनेमें पारे के सूत्र चढ़ जाने और थर्मामीटरके तड़क जानेका डर रहता है।

लम्बी मुद्दतके आरामके बाद फिरसे परिश्रम शुरू करनेका आधार खासकर थर्मामीटर पर ही रक्खा जाता है। एकबार

परिश्रम शुरू कर देनेके बाद फिरसे बीमार पड़ने और निराश होनेकी नौबत न आये, इसके लिये यह ज़रूरी है कि बुखार बराबर सावधानीके साथ व नियमित देखा जाय।

शरीरकी गर्मीमें घट-बढ़ होते रहना शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे आवश्यक है। यदि स्वस्थ मनुष्य भी दो-दो घण्टोंमें थर्मामीटरका उपयोग करे, तो पता चलेगा कि उसके शरीरकी गर्मीमें भी सुबहसे शाम तक हेर-फेर होता रहता है। जो लोग यह मानते हैं कि स्वस्थ अवस्थामें शरीरकी गर्मी ९८.४ डिग्रीसे कम या ज्यादा नहीं होनी चाहिये, उनका यह खयाल ठीक नहीं है। तन्दुरुस्त आदमीके शरीरकी गर्मी दिनमें ९७ और ९९ डिग्रीके बीच रहती है। आरामकी हालतमें जबतक गर्मी इस मर्यादाके अन्दर रहती है और ९८.८ से अधिक नहीं बढ़ती, तबतक उसे बुखार नहीं माना जाता। जब शरीर संपूर्ण आरामकी स्थितिमें होता है, और खासकर नींदमें होता है, तब गर्मी कम-से-कम रहती है। सुबह जागनेके बाद तुरन्त ही देखने पर गर्मी ९७ और ९८ के बीच मालूम पड़ेगी; यह हुआ सुबहका 'नॉमल टेम्परेचर'। शामको आध घण्टेके आरामके बाद गर्मी मालूम की जाय, तो वह ९८ और ९९ के बीच मिलेगी: यह हुआ शामका अथवा साधारण कामकाजकी स्वस्थ अवस्थाका 'नॉर्मल टेम्परेचर'। अगर सुबह उठते ही गर्मी ९८.२ या इससे भी ज़्यादा रहती हो, और शामके समय आध घण्टेके आरामके बाद ९९ या उससे ज़्यादा रहती हो, तो समझना चाहिये कि दोनों समयकी यह अवस्था अस्वस्थताकी सूचक है। अगर यह हालत कई दिनों तक बनी रहे, तो यह अंदाज़ किया जाता है कि शरीरमें कोई खराबी पैदा हो रही है।

क्षयकी बीमारीमें बुखार एक महत्त्वका और मुख्य लक्षण माना जाता है, लेकिन रात-दिन उसीमें मन लगाये रहने और

उसीकी चिन्ता किया करनेसे बुखारको बल मिलता है। चूँकि क्षयकी गति मंद होती है, इसलिये उसके लक्षण भी क्रम-क्रमसे काबूमें आते हैं, और धीरे-धीरे नष्ट होते हैं।

जब बदहज़मी या कब्ज़की शिकायत रहने लगती है, जुकाम बना रहता है, श्वासनलिकामें सूजन आ जाती है, मनको आघात पहुँचानेवाली घटनायें घटती हैं, ज्ञानतन्तु उत्तेजित रहते हैं, पहनने और ओढ़नेके कपड़ोंका ज़रूरतसे ज्यादा उपयोग होता है, और ऐसे दूसरे कारण पैदा होते और बने रहते हैं, तो उनका प्रभाव शरीरकी गर्मी पर भी पड़ता है—गर्मी कुछ बढ़ी नज़र आती है। औरोंकी तरह क्षयके बीमारको भी दूसरी छोटी-मोटी बीमारियाँ होती रहती हैं, और उनके कारण भी बुखार बढ़ती पर दिखाई देता है। पश्चिमी देशोंके 'सॅनेटोरियमो'में बीमारोंके रिश्तेदार और इष्ट-मित्र उनसे किसी निश्चित दिन ही मिल पाते हैं और उस दिन रोगियोंका बुखार कुछ बढ़ा नजर आता है, जो इस बातका सूचक है कि रोगके सिवा दूसरे कारणोंका भी बुखार पर असर पड़ता है। इसलिये जब थर्मामीटरमें बुखार कुछ ज्यादा मालूम पड़े तो तुरन्त ही यह मान लेना ज़रूरी नहीं कि रोग बढ़ गया है। अगर बाहरी कारणोंको बुखार पर असर डालनेका मौका न दिया जाय, और बीमारीके दरमियान शान्ति व धीरजसे काम लिया जाय, तो बारीक बुखारके जल्दी दूर हो जानेकी पूरी संभावना रहती है।

जबतक बुखार रहे, क्षयके बीमारको आराम करना चाहिये और जब बुखार दूर हो जाय, तो आराम कुछ कम करके धीरे-धीरे कसरतका क्रम बढ़ाना चाहिये। जबतक सवेरे गर्मी ९८ डिग्रीसे ऊपर और शामको ९९से ऊपर रहे, तबतक क्षयके बीमारको, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूरा-पूरा आराम करना चाहिये। स्त्रियोंमें मासिक धर्मसे पहलेके दस दिनोंमें आमतौर पर शरीरकी गर्मी छह सूत तक बढ़ जाती है, इसलिये उन दिनोंकी यह बढ़ी

हुई गर्मी रोगके कारण बढ़ी हुई नहीं मानी जाती। जब थर्मामीटरका पारा सुबह ९८.२ डिग्रीतक और शामको ९९.२ डिग्रीतक पहुँचता हो, तब किसी प्रकारका श्रम या व्यायाम नहीं करना चाहिये। ९९ डिग्री भी शंकास्पद स्थितिकी सूचक होती है, इसलिये अच्छा तो यह है कि जब इतनी गर्मी हो, तब श्रम न किया जाय। यह नियम हितकारी है; इसकी अवगणना करनेसे अकस्मात् संकट उपस्थित होनेका डर रहता है। इस तरहके सूक्ष्म या बारीक बुखारको तुच्छ समझकर लापरवाही से काम लिया जाय, तो अन्तमें निराश होनेकी नौबत आ सकती है। दूसरे लोग इस तरहके बुखारमें असावधान रहें, तो संभव है कि उन्हें ज़्यादा तकलीफ़ न उठानी पड़े, लेकिन अगर क्षयका बीमार भी उन्हींके रास्ते चलनेका साहस करे, तो मुमकिन है कि वह फिरसे रोगके तूफ़ानमें फँस जाय। ज्वरका कम होना रोगके ज़ोरकी कमी बताता है, लेकिन उसका मतलब यह नहीं कि रोग मिट गया। अगर क्षयके बीमारकी गर्मी रोज़की मःमूली गर्मीसे थोड़ी भी ज़्यादा मालूम पड़े, तो उसे आराम करना चाहिये और श्रमसे बचना चाहिये। उकताहट और अधीरता बीमारके शत्रु और बीमारीके मित्र हैं। प्रायः लोग प्रेमवश लेकिन अज्ञानके कारण रोगीको आराम सबंधी नियमोंका उल्लंघन करनेकी सलाह देते रहते हैं; रोगीके धैर्यकी यहीं परीक्षा होती है — उसके फिरसे स्वस्थ होनेका सारा आधार इसी पर है कि वह ऐसी सलाहों पर ध्यान न दे।

अगर कभी बुखार एक अर्सेतक आधी या पाव डिग्री अधिक रहने लगे, तो इस अधिकताके कारणका निर्णय किसी अनुभवी सलाहकारको ही करने देना चाहिये। बीमार ख़ुद इन अटपटी और बारीकीभरी बातोंका फ़ैसला करने लगे, तो उसका मन उलझनमें पड़ जाय और वह एकके बाद एक ग़लतियां करने लगे। उसके कर्तव्यकी सीमा नियमपालनमें समा जाती है।

१६

नाड़ी और श्वासोच्छ्वास

ऊपर हम देख चुके कि शरीरकी गर्मी कई कारणोंसे घटती-बढ़ती रहती है, लेकिन उससे भी ज्यादा घट-बढ़ नाड़ीकी चालमें हुआ करती है। बड़ी उम्रके आदमीकी नाड़ी एक मिनटमें ७२ बार फड़कती है, लेकिन यह तभी होता है, जब आदमी बिलकुल स्वस्थ और आरामकी दशामें हो। क्षणिक और क्षुद्र कारण उपस्थित होते ही नाड़ीकी गति बढ़ जाती है। इसलिये अगर नाड़ीकी गतिमें कारणवश १० से १५ तक वृद्धि हो जाती है, तो वह दोषसूचक नहीं मानी जाती। कसरत करने पर, खूब जोशमें आ जाने पर, घबराहटकी हालतमें या ऐसे ही दूसरे कारणोंसे नाड़ीकी गति १५ से भी अधिक बढ़ जाती है, भोजनके बाद भी गति बढ़ती है। लेकिन चूँकि ये कारण क्षणस्थायी होते हैं, इसलिये बढ़ी हुई गति भी कुछ ही देरमें कम हो जाती है।

लेकिन जब नाड़ीकी गतिमें स्थायी रूपसे वृद्धि हो जाती है, तो वह भी बुखारकी तरह क्षयका एक लक्षण माना जाता है। क्षयके बीमारकी नाड़ी आमतौर पर ज़रा तेज़ चलती है; अगर एक घण्टेके आरामके बाद भी नाड़ीकी गति फ़ी मिनट ९० या उससे अधिक रहे, तो बीमारको आराम करना चाहिये।

हाथके पहुँचेके पास अँगूठेके बादवाली अँगुलीकी सीधमें एक बड़ी नस रहती है, जिसपर तीन अँगुलियाँ ज़रा अलग-अलग

रखकर दबानेसे नाड़ीका पता चलता है। इन अँगुलियोंको नस पर न तो खूब ज़ोरसे दबाना चाहिये और न बहुत हलके। नाड़ीकी गति जाननेके लिये सेकण्ड (मिनटका ६०वाँ हिस्सा) के काँटेवाली घड़ीकी ज़रूरत होती है। नाड़ीकी धड़कनोंको पूरे एक मिनट तक गिनना चाहिये और बुखारकी नोंधवाले तख्ते पर नाड़ीकी गतिका जो खाना होता होता है, उसमें गति लिख देनी चाहिये। नाड़ीकी गति सुबह जागते ही मालूम करनी चाहिये। क्षयके इलाजमें इस समयकी गतिका महत्त्व सबसे ज्यादा रहता है। इसके सिवा, जब-जब बुखार देखा जाता है, तब-तब नाड़ीकी गति भी देखी जाती है।

नाड़ीकी गति परसे रोगीको अपने रोगके बलका अन्दाज़ लगानेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये। अकसर देखा जाता है कि रोग विशेष प्रबल नहीं होता, किन्तु नाड़ीकी गति तेज होती है, और कुछ व्यायामशील, पहलवान-जैसे, बीमारोंकी नाड़ी धीमी चलती है। नाड़ी स्वभावसे इतनी चंचल होती है कि नकुछ से कारणको पाकर उसका वेग बढ़ जाता है। उसकी गति परसे किसी चीज़का अन्दाज़ करनेमें अकसर भूल हो जाती है। और क्षय-जैसी बीमारीमें किसी एक ही लक्षण परसे, और सो भी नाड़ीकी तरह चंचल लक्षण परसे, रोगका पूरा ज्ञान नहीं हो पाता। अगर बीमार नाड़ीकी गतिके संबंधमें मन ही मन व्यर्थका ऊहापोह किया करे, तो उससे गतिमें कोई सुधार नहीं होता: उलटे मनकी व्याकुलताके कारण नाड़ीका वेग बढ़ जानेकी सभावना रहती है।

नाड़ीकी तरह ही श्वासोच्छ्वासमें घट-बढ़ होती रहती है। नीरोग अवस्थामें श्वासोच्छ्वासकी गति फी मिनट १८ होती है। नाड़ी और श्वासोच्छ्वासकी गतिका अनुपात ४:१ माना जाता है।

लेकिन क्षयकी बीमारीमें यह अनुपात कायम नहीं रहता। पीठके बल लेटनेके बाद पेटपर हलका हाथ रखकर श्वासोच्छ्वास गिना जाता है। इसके लिये सेकण्डके कॉंटेवाली घड़ीकी जरूरत रहती है। गिनती पूरे एक मिनट तक करनी चाहिये। सॉंस लेनेसे पेट फूलता है, और सॉंस छोडनेसे नीचे बैठता है। एक मिनटमें पेट जितनी बार फूलता है, उतनी ही श्वासोच्छ्वासकी गति मानी जाती है। श्वासोच्छ्वासकी गति भी आरामके बाद ही लेनी चाहिये।

१७

शोष या क्षीणता

शोष क्षयका प्रसिद्ध लक्षण है। रोगके जाग्रत होते ही शरीर क्षीण होने लगता है और वज़न घटता है। लेकिन जब इलाजका असर होने लगता है, तो रोगका विष शरीरमें कम फैलता है, चरबी तथा मांसके ह्रासकी गति रुक जाती है और शरीर फिरसे हृष्टपुष्ट बनने लगता है। यह सुधार इष्ट होते हुए भी भ्रामक होता है। शरीरके वज़नको बढ़ता देखकर रोगके दब जानेका अनुमान कर लेना ठीक नहीं। रोगकी जाग्रत अवस्थामें भी वज़न बढ़ता है और शरीर पुष्ट होने लगता है।

मनुष्यके शरीरका वज़न जड़ वस्तुके वज़नकी तरह स्थिर नहीं होता। एक मन पत्थरका वज़न तो एक ही मन रहता है, बशर्तें कि वह किसी तरह न घिसे, परन्तु मनुष्यके वज़नमें उसके जन्मसे ही क्रमिक वृद्धि होती रहती है, यदि परिस्थिति सब प्रकारसे अनुकूल रहे। मनुष्यके वज़नका आधार उसके क़द और उम्रपर रहता है; लेकिन एक ही ऊँचाई और उम्रके स्त्री-पुरुषोंके वज़नमें फ़र्क़ पाया जाता है। स्त्रीका वज़न पुरुषकी अपेक्षा कम होता है। मौसिमके मानसे वज़नमें थोड़ी घट-बढ़ भी हुआ करती है; जाड़ोंमें वज़न बढ़ता है; गर्मियोंमें कम होता है। मनुष्यकी मनोदशाका भी उसके वज़न पर असर पड़ता है। जिसने कहा कि 'हँसो और अलमस्त बनो,' उसने ग़लत नहीं कहा। चिन्ता चिताकी तरह देहको जलाती है।

जिस किसी भी तरह वजन बढ़ाकर झटपट हृष्ट-पुष्ट बननेका प्रयत्न करनेसे बहुत नुकसान होता है। ज्यादा वजन बढ़ानेके लिये ज्यादा खानेकी ज़रूरत होती है; लेकिन ज्यादा खानेसे कई तरहकी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। क्षयके बीमारको अपनी पाचनशक्ति-की मददसे पुनः स्वस्थ होना है, इसलिये उसे ऐसा कोई काम न करना चाहिये, जिससे उसका हाज़मा बिगडे या कमजोर हो। ठूँस-ठूँसकर खानेसे जो वज़न बढ़ता है, वह कायम नहीं रह सकता। अगर चर्बी बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, तो उससे हृदयको नुकसान पहुँचनेका अँदेशा रहता है, और साँस लेनेमें बार-बार रुकावट पैदा होती है, साँस जल्दी-जल्दी फूलने लगती है, और जब कसरत करनेका वक्त आता है, तो चर्बीकी अधिकताके कारण न कसरत की जा सकती है और न ठीक-ठीक ताकत कमाई जा सकती है। रोगके दब जानेपर भी शरीरको कसा नहीं जा सकता और वह थलथला ही रह जाता है। यह हालत किसी भी तरह चाहने लायक तो नहीं कही जा सकती।

रोगकी स्थितिका विचार करनेमें बढ़ा हुआ वज़न ज्यादा उपयोगी नहीं होता। रोगका ज्यादा अन्दाज़ तो इस बातसे लगता है कि वजन घटता है या नहीं।

ऊँचाई और उम्रके हिसाबसे वज़न कितना होना चाहिये, इसके कई कोष्टक प्रचलित हैं। एक अन्दाज देनेके खयालसे वे काफी उपयोगी हैं। लेकिन उनमें सूचित अंकोंके अनुसार वज़न न रहे, तो सिर्फ इसीलिये चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कोष्टकमें सूचित वज़न बहुतोंके वजनका औसत निकालकर ठहराया जाता है, और औसत निकालनेमें कुछ लोगोंका वज़न कोष्टकसे ज्यादा और कुछका कम होता है। कोष्टकके वज़नसे कम वज़नवाले आदमी

भी हर तरह स्वस्थ और सशक्त पाये जाते हैं। जबतक शरीरकी हड्डियोंका ढाँचा—शरीरका अस्थि-पंजर—भलीभाँति आवृत्त रहता है, चमड़ी ढीली और झुर्रियोंवाली नहीं होती, छातीका हिस्सा उभरा हुआ और चौड़ा तथा पेट बैठा या चिपका हुआ रहता है, तबतक वज़नकी चिन्ता करना ज़रूरी नहीं होता।

कोष्टकमें सूचित वज़नकी अपेक्षा बीमारीके पहलेका वज़न बीमारीके बाद वज़नमें होनेवाली कमी-बेशीका अन्दाज़ लगानेमें ज़्यादा उपयोगी होता है; लेकिन वह मालूम न हो, तो उसके अभावमें इलाजके असरको जानना असम्भव या मुश्किल नहीं रहता।

जबतक रोग अपने ज़ोरमें हो और कमज़ोरी ज़्यादा हो, तबतक रोगीको अपना वज़न करानेकी तकलीफ़ न उठानी चाहिये। उस दशामें तो आराम ही चिकित्साका मुख्य अंग रहता है, अतएव उसमें बाधा पहुँचानेवाले किसी कामसे कोई हेतु सिद्ध नहीं होता। लेकिन जब बुखारका ज़ोर कम हो जाय और दूसरी कोई तकलीफ़ या रुकावट न हो, तो हफ़्तेमें एक बार बीमारका वज़न करा लेना अच्छा है। वज़नका काँटा एक ही रहे, तो अच्छा। दो घड़ियोंकी तरह दो काँटे भी कभी एकसे नहीं होते। कुल वज़न जाननेकी अपेक्षा वज़नमें घट-बढ़ कितनी हुई है, यह जानना ज़्यादा उपयोगी है, और इसके लिये हमेशा एक ही काँटेका उपयोग ज़रूरी है। काँटे भी कई तरहके होते हैं। कमानीदार या स्प्रिंगवाले काँटे ज़्यादा समय तक अच्छे नहीं रहते; कमानी पर हवाकी नमी और खासकर बारिशकी नमीका असर भी होता है। और, इसकी वजहसे वज़न कम या ज़्यादा मालूम पड़ता है। इसलिये बेहतर तो यह है कि ऐसे काँटोंका उपयोग न किया जाय। तौल या वज़नके लिये तराज़ूका काँटा अच्छा माना जाता

है। वज़नका समय भी एक ही रहना चाहिये। जिस तरह वज़न पर मौसिमका असर होता है, उसी तरह रोज सुबह शामके वज़नमें भी थोडा फर्क रहता है। सुबह पेट हलका करनेके बाद वज़न सबसे कम और शामको सबसे ज्यादा मालूम पड़ता है, भोजनसे पहले और भोजनके बादके वजनमें फ़र्क हो जाता है। कपडोंके कारण भी वजनमें अन्तर पडता है। वज़न करते समय कम-से-कम कपडे पहनने चाहियें—जहाँ तक हो सके, एक कपडा पहनना अच्छा है। वज़नका सबसे अनुकूल समय सुबह शौचके बादका माना जाता है। इस प्रकार सब तरहकी खबरदारी रखनेके बाद भी कभी-कभी वजनमें अनचीता फर्क मालूम होता है, लेकिन उसे ज्यादा महत्त्व देनेकी ज़रुरत नहीं। वज़नमें इस तरहकी आकस्मिक घटा-बढ़ी तो कुछ समय तक होती ही रहती है।

जबतक रोगी शय्यावश हो, वजन हर महीने दो पॉण्ड या रतलके के हिसाबसे और जब चलने-फिरने लगे, तो तीन-चार रतलके हिसाबसे बढ़ना चाहिये। इस तरह बढ़े, तो सन्तोष मानना चाहिये। हर हफ़्ते वजनमें असाधारण वृद्धिका होना हमेशा इष्ट नहीं रहता। वजन भी एक खास हद तक ही बढ़ता है। यह चाहना कि इलाजके दरमियान वज़न बराबर बढ़ता ही रहे, अज्ञानमूलक है। अगर रोगीका वज़न हर हफ्ते एक रतलके हिसाबसे बढ़े, तो सालके अन्तमें ५२ रतल वजन बढ़ जायगा, और दो रतलके हिसाबसे बढ़े, तो १०४ रतल बढेगा, ऐसी दशामें रोगी मास-मेदका एक ऐसा मोटा-सा पिण्ड बन जायगा कि वह स्वयं उससे घबराने लगेगा। वज़नकी आवश्यकता है, लेकिन उसकी हद होनी चाहिये। इलाजका लक्ष्य वज़न नहीं, शक्ति बढ़ाना है, वजन और शक्ति दो बिलकुल भिन्न चीज़ें हैं। शरीर बहुत वज़नदार न होनेपर भी शक्तिशाली हो सकता है।

१८

क्षयके अन्य लक्षण

खाँसी : क्षयकी बीमारीमें खाँसी हमेशा पाई जाती है। गला साफ़ करनेके लिये खखारनेसे लेकर समय-समय पर आनेवाले ठसके, हलकी खाँसी, और रोगीको बेदम करनेवाली ज़ोरकी खाँसी तक सभी प्रकार इसमें पाये जाते हैं। कुछ मामलोंमें रोगके पूरी तरह काबूमें आ जाने पर भी खाँसीका कुछ अंश बाक़ी रह जाता है, लेकिन उससे रोगीको कोई खास तकलीफ़ नहीं होती।

खाँसीको हम एक तरहकी कड़ी कसरत कह सकते हैं। इसकी वजहसे फेफड़ोंको बहुत श्रम पहुँचता है, घावके भरनेमें रुकावट पैदा होती है, और भरा हुआ घाव कच्चा हुआ, तो उसे नुकसान पहुँचता है। बीमार खाँसते-खाँसते सुर्ख़ हो जाता है, और उसकी नाड़ीकी गति बढ़ जाती है। बुखार पर भी इसका असर होता है। रोगकी शक्ति-अशक्तिके अनुसार खाँसीकी मात्रा घटती-बढ़ती रहती है; इसी तरह जब हवामें कोई आकस्मिक परिवर्तन होता है या ठण्डी और गरम चीज़ें एकके बाद एक खानेमें आ जाती हैं, या ऐसे ही कोई दूसरे कारण पैदा हो जाते हैं, तो खाँसी उठती है। खाँसी किसी भी वजहसे क्यों न पैदा हो, उसे प्रयत्नपूर्वक रोकनेमें फ़ायदा है।

छातीमें पैदा होनेवाले कफ वग़ैरा पदार्थोंको बाहर निकालनेकी दृष्टिसे खाँसीका अपना उपयोग है। लेकिन इसके सिवा, खाँसी अपने आपमें निरुपयोगी और हानिकारक है। वह रोकी जा सकती

है; मात्र उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। अगर रोगी अपने मनसे खाँसीको रोकनेका दृढ़ निश्चय कर ले, तो थोड़े समयमें वह दवाई जा सकती है। झूठी खाँसीको रोकनेसे किसी तरहके नुकसान का कोई डर नहीं — न ऐसा डर रखनेकी ज़रूरत है। यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि खाँसी जितनी ज़्यादा ली जाती है, उतनी ज़्यादा आती है। अगर उसे रोकनेकी आदत ठीकसे पड़ जाय, तो कफको बाहर निकालनेके लिये भी उसकी ज़रूरत कम ही रहती है। श्वासनलिकाकी रचना ही ऐसी है कि जब उसमें कफ वगैरा कोई प्रतिकूल या विजातीय द्रव्य इकट्ठा होता है, तो वह अपनेआप खिंचकर गलेकी तरफ आ जाता है, और अनायास ही बाहर निकल जाता है। इसलिये गलेमें खाँसीकी खरखराहट पैदा होने पर भी उसके वश न होनेमें लाभ है।

खाँसीकी रोक उपयोगी है, लेकिन उसके लिये मनोबलसे काम न लेकर अकारण औषधियोंकी शरण लेना, एक बुराईको मिटानेके लिये दूसरी बुराईको अपनाने जैसा है।

कफ: कुछ बीमारोंको सूखी खाँसी आती है, कुछको खाँसीके साथ कफ भी आता है। क्षयके बीमारका सारा कफ या बलगम क्षयजन्य ही नहीं होता। जब श्वासनलिकामें या गलेमें सर्दीका असर होता है, तो वहाँसे भी मवाद बहता है। इसलिये अकेले कफकी न्यूनाधिक मात्रा परसे किसी प्रकारकी कोई अटकल लगाना निरर्थक है।

बलगम या कफका आना वैसे एक अच्छा चिह्न है। जब रोग ज़ोर पर होता है, तो घुली हुई या कमज़ोर बनी हुई ग्रंथियां धीमे-धीमे फेफड़ोंसे अलग होने लगती हैं और इस क्रियामें अगर वे बलगमके साथ बाहर निकल जाती हैं, तो वह अच्छा ही होता है। जब पेटमें

मल-संचय हो जाता है, तो उसे जुलाब वगैराके जरिये बाहर निकालनेकी कोशिश की जाती है, और यह चाहा जाता है कि जुलाब सफल हो। इसी तरह जब फेफड़ोमें रोगके कारण कोई खराबी पैदा होती है, तो उसका बाहर निकल जाना ही उचित माना जाता है। सड़ी-गली चीज़ें शरीरमें रहें, तो वहाँ उनका कोई उपयोग नहीं; उलटे वे शरीरके स्वस्थ अंगोको नुक़सान पहुँचाती हैं।

क्षयग्रंथियाँ सभी एक साथ एक ही अवस्थामें नही रहतीं। ग्रंथियाँ जैसे-जैसे कमज़ोर पड़कर क्रम-क्रमसे नष्ट होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनका मवाद क्रमज़ोर बाहर निकलता जाता है। जब इस क्रियामें कमी-वेशी होती है, तो उसके कारण कफकी मात्रामें भी कमी-वेशी हो सकती है — इसमें आश्चर्यको कोई बात नहीं। मौसिम या हवाके हेरफेरसे भी कफकी मात्रा घटती-बढ़ती रहती है।

जब रोग अपने ज़ोरमें होता है, बलग़म बार-बार आता है। ऐसी दशामें रोगी कभी-कभी उकता जाता है और बलग़मको थूकनेके बजाय वह उसे निगल जाना ज़्यादा पसंद करता है — कुछको इसकी आदत भी पड़ जाती है। लेकिन यह आदत किसी तरह भी अच्छी नहीं कही जा सकती। बलग़मको निगलनेका मतलब है, पेटको पीकदान बना लेना। जब बलग़म पेटमें जाता है, तो पाचनक्रियामें रुकावट पैदा होती है; यही नहीं, बल्कि आँतोंमें क्षयग्रंथियोंके बनने और वहाँ क्षय पैदा होनेकी पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। जिस तरह मल-मूत्रका त्याग एक खास स्थानमें ही किया जाता है, उसी तरह बलग़मको भी पीकदानमें ही थूकना चाहिये। शरीरमे पैदा होनेवाले विकृत पदार्थोंको न तो शरीरमें रक्खा जा सकता है, न उन्हें जहाँ-तहाँ फेंका ही

जा सकता है। हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि सफ़ाई न केवल आरोग्यका उत्तम साधन है, बल्कि वह रोगकी चिकित्साका एक महत्त्वपूर्ण अंग भी है।

जिस तरह खाँसीको रोकनेके लिये दवाका उपयोग करनेसे लाभके बदले हानिकी संभावना अधिक रहती है, उसी तरह बलग़मको रोकके लिये दवाका उपयोग करना हानिकारक है। कभी कभी तबीयत अच्छी हो जानेके बाद भी खाँसीकी तरह बलगम आता रहता है। लेकिन इससे घबरानेकी कोई ज़रूरत नहीं। रोग पर विजय पाकर जब रोगी चलने-फिरने और कामकाज करने लगता है, तो भी बरसों तक उसे कफ आता रहता है, लेकिन उससे उसे कोई तक्लीफ नहीं होती।

दम : क्षयकी बीमारीमें साँसका फूलना या दमका झट-झट भर आना हमेशा क्षयके कारण ही नहीं होता। सर्दी हो जाने पर, रक्तका दबाव बढ़ जाने पर, पेट फूल जाने पर, या पेटमें वायु अथवा मलका संचय होने पर साँस लेनेमें थोड़ी-बहुत कठिनाई होती है। रोगीके कमरेमें हवाके आने-जानेका रास्ता ठीक न हो, हवा जितनी चाहिये, उतनी चंचल न हो, या रोगीने ज़रूरतसे ज्यादा कपड़े पहने या ओढ़े हों, तो इन कारणोंसे भी उसका जी घबराने लगता है। कभी-कभी रोगके काबूमें आ जाने पर भी रोगीको साँस लेनेमें तकलीफ मालूम होती है, लेकिन वह किसी खराबीकी सूचक नहीं। अकसर जब फेफड़ोंके घाव भरने लगते हैं, और नये तन्तुओंमें तनाव पैदा होता है, या शरीरमें चर्बीका भाग बढ़ जाता है, तो साँसकी यह तकलीफ मालूम होती है। इसलिये जब साँस फूली रहे, तो सिर्फ उसपरसे यह अंदाज़ लगाना कि रोग बढ़ गया है या जोर पर है, मुनासिब नहीं।

स्वर-भेद : रोगके विषका प्रभाव कभी-कभी रोगीके स्वर (आवाज़) पर भी पड़ता है। बीमारकी आवाज़ मन्द या सुस्त, खरखरी और फटी-सी मालूम पड़ती है। कभी-कभी गलेमें क्षय ग्रंथियाँ बनने लगती हैं और वहाँ रोग अपना काम करता नज़र आता है। जब आवाज़में किसी भी प्रकारकी कोई खराबी पैदा हो, तो उसे मिटानेका सबसे अच्छा उपाय मौन है। बिना मौनके बिगड़ी हुई आवाज़ सुधरती नहीं और गलेका क्षय दूर होता नहीं। रोगवाले प्रदेशको आराम पहुँचानेके लिये ही मौन रक्खा जाता है। ऐसी दशामें दूसरोंके साथ आवश्यक बोल-चालका काम कागज़ या पट्टी पर लिखकर या इशारोंसे किया जाता है। मौनसे फेफड़ोंको भी अनायास ही विशेष आराम मिलता है और रोग भी आसानीसे वशमें आ जाता है।

पीड़ा या दर्द : क्षय शरीरके अन्दर एक लम्बे अर्से तक रहनेवाली बीमारी है। मगर शरीरको क्षीण करने, कमज़ोर बनाने और नाशकी ओर ले जानेकी उसकी क्रियामें अत्याचारीके अत्याचार-सी पीड़ा नहीं होती। खाँसीसे जी आकुल-व्याकुल हो जाता है, बलग़म थूकते-थूकते जी उकता जाता है, कमज़ोरीके कारण मन परेशान रहता है, परन्तु रोगीको असह्य वेदना नहीं सहनी पड़ती। जबतक रोग फेफड़ोंमें ही रहता है, कभी-कभी छातीमें या पीठमें दर्द मालूम होता है, लेकिन वह नाम-मात्रका, मंद और चंचल या क्षणिक होता है। जब फेफड़ोंकी तह तक रोग अपना प्रभाव फैला चुकता है और प्लूरसी खड़ी हो जाती है, तब भी जबतक वह फेफड़ोकी ऊपरी सतह तक रहती है, बहुत पीड़ा नहीं पहुँचाती। लेकिन जो प्लूरसी फेफड़ोंके निचले हिस्सेमें होती है, वह अवश्य ही बहुत दुखदायक होती है। उसमें रह-रहकर पीड़ा की

असह्य टीसें उठा करती हैं, साँस-उसाँस लेते समय, हँसते, बोलते, छींकते, और खाँसते समय बेहद तकलीफ़ होती है।

क्षयके फलस्वरूप छातीमें कभी-कभी नकुछसे कारणसे भी दर्द शुरू हो जाता है। थकावटके कारण, चिन्ताके कारण या मौसिमके थोडे हेर-फेरके कारण यह दर्द बार-बार उठता है, लेकिन यह क्षणिक और दुर्बल होता है। अच्छे होनेके बाद भी कुछ बीमारोंकी यह हालत वर्षों तक बनी रहती है। इससे किसीको यह न मान लेना चाहिये कि रोग अन्दर ही अन्दर बढ़ रहा है, या कि वह फिरसे उठनेवाला है या उठ रहा है। क्षयके अच्छी तरह दब जानेपर भी उसके कोई-कोई चिह्न शरीरमें शेष रह ही जाते हैं। आग चीज़ोंको जला देती है, लेकिन उनकी राख बच रहती है, उसी तरह क्षय भी, यों कहनेको, बिलकुल दब जाता है, मगर उसके सभी चिह्न नष्ट नहीं होते।

ख़ूनकी कै: जब मुँहकी राह फेफड़ोंका ख़ून बाहर आता है, तो रोगी बुरी तरह घबरा जाता है; लेकिन घबराना बेकार है। यह कोई कानून नहीं, कि तपेदिकके हरएक बीमारको ख़ून गिरना ही चाहिये। कई बीमार अबेर सबेर अच्छे होते हैं, लेकिन उन्हें नामको भी ख़ून नहीं गिरा होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ख़ून किसके गिरता है और किसके नहीं गिरता। यह सोचना कि जबतक ख़ून नहीं गिरता, रोगका ज़ोर कम रहता है, या यह कि ख़ून गिरनेसे रोग बढ़ जाता है, ठीक नहीं; इसमें अतिशयोक्ति होती है। ख़ूनके गिरनेसे रोगकी गंभीरताका निर्णय नहीं किया जा सकता। यह कोई चेतावनी नहीं है, और इससे मौत भी शायद ही कभी होती है। क्षय में ख़ूनका आना एक संयोग-मात्र है।

फेफड़ोंसे निकलनेवाले ख़ूनका कोई पैमाना तय नहीं। जब ख़ून आने लगता है, तो कुछ बूँदोंसे लेकर कई-कई तोलों तक आता है। जिस तरह इसका कोई निश्चित पैमाना नहीं, उसी तरह यह भी ठीक नहीं, कि वह कितनी बार आयेगा और किस कारण आयेगा। जब ख़ून थोड़ी मिकदारमें गिरता है, तो उससे सिर्फ़ इतना ही उपयोगी अंदाज़ लगाया जा सकता है कि बीमारी क्षय की है और वह जाग्रत है।

ख़ून फेफड़ोंसे ही आता है या कहीं औरसे, इसका निश्चय कर लेना चाहिये। पेटकी खराबीके कारण अकसर क्षयके बीमारका मुँह आ जाता है, मसूड़े फूल जाते हैं, और जब किसी वजहसे उनपर दबाव पड़ता है, तो उनमेंसे ख़ून बहने लगता है। यह ख़ून फेफड़ोंका ख़ून नहीं कहा जा सकता। इसकी रोकके लिये अलग इलाज किया जाता है। पेटकी जिस बीमारीके कारण दाँत और मसूढ़ोंसे ख़ून बहता है, उस बीमारीका इलाज होना चाहिये।

फेफड़ोंके ख़ूनको रोकनेका इलाज, जिसे बीमार ख़ुद कर सकता है, एक ही है। और वह है, पूरापूरा आराम। जब रोगी आराम नहीं करता, बल्कि मेहनत करता है, तो शरीरके अन्दर ख़ून तेजीसे दौड़ता है, ख़ूनका दबाव बढ़ता है और वह अधिक मात्रामें बाहर आने लगता है। लेकिन अकेले शरीरको आराममें रखनेसे भी काम नहीं चलता। शरीरके आराममें रहते हुए भी अगर मन बेचैन और घबराया हुआ है, तो उससे ख़ूनकी दौड़ बढ़ सकती है, और मुँहकी राह ज़्यादा ख़ून गिर सकता है। शरीरको पूरा-पूरा आराम देने, मनको शान्त रखने और धीरजसे काम लेने पर रोगी अधिकतर अपने रक्तको रोक सकता है। ख़ून गिरनेकी हालतमें उसे खाँसीको खास तौरपर दबाये रखना चाहिये।

खराब हाज़मा : तपेदिककी बीमारी लम्बे अर्से तक क़ायम रहती है, ऐसी हालतमें इस या उस वजहसे रोगीका हाज़मा कमज़ोर पड जाय, तो कोई अचरज नहीं। जब रोग जागता है, तो हाजमे पर उसका असर पडने लगता है। यह भी नहीं कि रोगसे पहलेकी हालतमें हाज़मा हमेशा निर्दोष और अच्छा ही रहता हो। ऐसे विरले ही लोग होते हैं, जिनकी पाचनशक्ति हमेशा अच्छी रहती है। बहुतोंकी तो कामचलाऊ ही होती है। इसलिये रोगके जागरण-कालमें यदि किसी समय पाचनशक्ति मंद प्रतीत हो, तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये। लेकिन चूँकि आखिर बीमारको उसीके आधार पर उस पार पहुँचना होता है, इसलिये उसकी हिफ़ाज़तमें लापरवाही या गफ़लत तो न रहनी चाहिये। बीमारको कभी कब्जियत रहने लगती है, कभी पेटमें हवाका संचार होनेसे पेट फूल जाता है; कभी बदहजमी हो जाती है, और कभी दस्त लग जाते हैं। पूरी खबरदारी रखनेके बाद भी अगर ये सब खराबियाँ पैदा हो जायँ, तो बिना घबराये इन्हें और इनके कारणोंको दूर करनेके लिये अनुभवीकी सलाहसे उचित इलाज करना चाहिये। अगर किसीको आलू खानेसे पेटमें हवाकी तकलीफ हो, तो उसे आलू खाना छोड़ देना चाहिये। अगर दूध पीनेसे पेटमें गड़गडाहट-सी मालूम पड़े, तो दूधमें सोंठ या दूसरी वातनाशक वस्तु डालकर दूध पीना चाहिये, आदि-आदि।

पाचनशक्तिकी रक्षाके लिये नियत समय पर खाना-पीना और रुचि व भूखके अनुसार उचित ख़ुराक लेना चाहिये। स्वादके चक्करमें पडकर या झटपट तन्दुरुस्त हो जानेकी इच्छासे खाने-पीनेमें किसी तरहकी ज्यादती न होने देनी चाहिये। अगर भोजनके समयसे पहले आध घण्टा आराम किया जाय — सो लिया जाय — तो और

भी अच्छा। साथ ही अगर भोजनके बाद भी फिर उतना ही आराम ले लिया जाय, तो रुचि और भूख दोनों अच्छी रहेंगी और पाचन भी ठीक होगा।

बीमार अपनी मनोदशाके ज़रिये अपने हाज़मेको तेज़ या मन्द बना सकता है। जब मन उल्लसित, आनदित और निश्चिन्त होता है, तो भूख और रुचि भी अच्छी मालूम होती है; इसके विपरीत, जब मन उद्विग्न और शोक या चिन्तामें डूबा रहता है, तो भूख मर जाती है।

'अगर आँगनमें कचरेका ढेर पड़ा है, तो समझ लीजिये कि घरमें गन्दगी ज़रूर होगी।' इसी तरह अगर दाँत और मुँह गन्दा है, तो पेट साफ़ नहीं रह सकता। दाँतोंकी पूरी-पूरी हिफाज़त रखनी चाहिये। दाँतोंकी और मुँहकी खराबीसे पेट खराब होता है और पाचनशक्ति कमजोर पड़ जाती है। एकका असर दूसरे पर होता है। अगर दाँतोंके मसूड़े फूले हुये या सूजनवाले हों, जीभ मैली हो, और मुँहसे बदबू आती हो, तो समझिये कि पेट साफ नहीं है। क्षयके बीमारको मुँहकी सफ़ाईका पूरा-पूरा खयाल रखना चाहिये।

खाँसनेकी इच्छाको रोकनेसे लाभ होता है, जबकि मल-मूत्रके वेगको रोकनेसे नुकसान होता है; इसलिये उन्हें कभी रोकना न चाहिये।

पेटमें दर्द हो और वह देर तक बना रहता हो, तो उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये, बल्कि तुरन्त डॉक्टरका ध्यान उस ओर दिलाना चाहिये।

पसीना : तपेदिकके बीमारको कभी-कभी पसीनेकी शिकायत रहती है। जिन्हें पसीना आता है, उन्हें वह अक्सर पिछली

रातमें आता है; किसीको ज्यादा, किसीको कम। जब ज्यादा आता है, तो बीमार पसीनेसे तर हो जाता है, उसके कपड़े भीग जाते हैं। पसीनेका आना एक तरहकी थकावटका चिह्न है। जब रोगके कारण पसीना ज्यादा आता है, तो वह आराम करने और ताजा हवामें रहनेसे अक्सर रुक जाता है। लेकिन कई दफ़ा पसीना रोगकी वजहसे उतना नहीं आता, जितना रोगीकी कुछ आदतोंकी वजहसे आता है। जब रोगीके कमरेमें हवाके आने-जानेका पूरा प्रबन्ध नहीं होता, जब उसके कमरेकी हवा स्थिर रहती है, और पहनने व ओढ़नेके कपड़े सर्दीके हिसाबसे नहीं, बल्कि सर्दी खाजानेके डरसे, ज़रूरतसे ज्यादा काममें लाये जाते हैं, तो पसीना ज़रूर आता है। इस पसीनेको रोकनेके लिये इसको पैदा करनेवाले बाहरी कारणोंकी रोक होनी चाहिये, पसीना आते ही उसे पोंछ डालना चाहिये और गीले कपड़े फ़ौरन बदल डालने चाहियें।

नींदका न आना : जीने के लिये नींद बहुत ज़रूरी है; बिना उसके शरीर और मनकी थकावट दूर नहीं होती, क्षतिकी पूर्ति नहीं हो पाती और दुर्बलता अथवा क्षीणता बढ़ती है। अगर नींदका यह अभाव देर तक बना रहे, तो आदमी आकुल-व्याकुल हो जाता है। नींदका न आना, क्षयका कोई खास लक्षण नहीं। लेकिन बीमार अकसर इसकी चिन्ता किया करता है। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि किसके लिये कितनी नींद काफी होती है। किसीको छह घण्टे बस होते हैं, और किसीके लिये ९-१० घण्टोंकी नींद ज़रूरी होती है। नींदका ज्यादातर फ़ायदा शुरूकी नींदसे मिलता है। शुरूकी नींद बहुत गाढ़ी होती है; इस नींदके दरमियान शरीर और मनकी बहुत-कुछ थकावट दूर हो

जाती है। नींदमें बाधा पहुँचानेवाले दो कारण मुख्य माने जाते हैं: पेटका भारीपन और मनकी हालत (वृत्ति)। जब पेट खाली होता है, तो नींद नहीं आती या कम आती है; ठीक यही हालत ठूँस-ठूँसकर खानेपर भी होती है। रात सोते समय खानेकी आदत न रखनी चाहिये। जब मन किन्हीं विचारोंमें उलझ जाता है, तो नींद नहीं आती। उत्तेजित मनको शान्त होनेमें देर लगती है। कायरता, चिन्ता, असंतोष, भय आदिके भाव मन पर सवारी करते हैं, तो वे नींदको उडा देते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रोगी रातमें कुछ मिनटोंके लिये दो-चार बार जागता है और उसके मनमें यह खयाल रह जाता है कि रात उसे ठीक नीद नहीं आई। रातमें नींद अच्छी तरह आई या नहीं, इसे जाननेकी एक आम कसौटी यह है कि सुबह जागने पर सुस्ती मालूम होती है या स्फूर्ति।

रात सोते समय चाय या कॉफी—जैसे उत्तेजक पदार्थ पीनेसे भी नींद खराब हो जाती है। इसलिये न तो रातमें ये चीजें पीनी चाहियें और न मनमें अशान्ति पैदा करनेवाले किसी काममें भाग लेना चाहिये — जैसे उत्तेजक बातचीत, वाचन, विचार् वग़ैरा। रातमें ९ बजते-बजते चिराग़ कम करके सो जानेका आग्रह रक्खा जाय, तो नींदमें कम-से-कम बाधा पहुँचती है और शरीर व मनको आवश्यक आराम मिल जाता है।

पहनने और ओढ़नेके कपड़ोंका जरूरतसे ज्यादा उपयोग करनेसे, पसीना आनेसे या इस तरह सोनेसे कि जिसमें शरीर के अंग-प्रत्यंगको पूरी-पूरी आज़ादी और अवकाश न मिले, शरीरके कुछ अंग दबे रहें, और सोनेका तरीक़ा ग़लत हो, तो नींदमें खलल पहुँच सकता है। रोगकी जाग्रतिके कारणसे नींद क्वचित् ही खराब

होती है। खाँसीसे नींद उचट सकती है; लेकिन झूठी खाँसीको रोकनेकी आदतसे यह कठिनाई दूर हो जाती है। सिवा इसके, अगर सोते समय एक कटोरी भर गरम दूध पी लिया जाय, तो कफ घुलकर बाहर निकल आता है; खाँसी कम हो जाती है और नींद अच्छी आती है। नींदका सबसे सरल और सफल उपाय तो यही है कि नींदकी चिन्ता ही न की जाय।

१९

सफ़ाई

आरोग्यकी महत्ता तभी ध्यानमें आती है, जब आदमी तन्दुरुस्ती खोकर रोग का शिकार बनता है; इसी तरह स्वच्छता या सफ़ाईकी सच्ची क़ीमत भी तभी मालूम होती है, जब सफ़ाईके बदले आदमी मैलेपनका या गंदगीका अनुभव करता है। आरोग्यकी दृष्टिसे शरीर, मन, वस्त्र, आहार और निवासकी अन्तर्बाह्य स्वच्छता जितनी स्वस्थ मनुष्यके लिये आवश्यक है, उतनी ही बल्कि उससे भी ज्यादा वह क्षयके रोगीके लिये जरूरी है।

स्वच्छताका महत्त्व हमारे ध्यानमें उस समय बड़ी आसानीसे आ जाता है, जब हम देखते हैं कि एक आदम बेहद गन्दा है और दूसरा उसके खिलाफ़ बहुत साफ-सुथरा है। गन्दा आदमी अपने बालोंकी कोई फिकर नहीं लेता। बाल उसके जैसे-तैसे जंगलकी तरह उगे हुए, रूखे और उलझे रहते हैं, कानोंमें मैल भरा रहता है; आँखें कीचडवाली होती हैं, दाँत मैलसे भरे हुए, साँस बदबूवाली, नाख़ून बढ़े हुए और मैले, शरीर पर जहाँ-तहाँ — कानके पीछे, पैरोंमें—मैलकी तहें जमी हुईं, शरीर बदबूसे बसा हुआ, कपडोंमें सफाई और सुघड़ताका नाम नहीं। इस आदमीको देखकर मन अरुचिसे भर जाता है। इसके खिलाफ़ एक आदमी वह भी है, जिसका सिर साफ, बाल सुलझे और जमे हुए, कान, नाक, आँखमें किसी तरहकी गन्दगी नहीं, दाँत दूधकी तरह सफेद, मुँहमें बदबूका नाम नहीं, नाख़ून कटे हुए और साफ़, शरीर स्नानसे शुद्ध और दुर्गंध रहित,

शरीरके किसी भागमें मैलका कोई निशान नहीं, कपडे साफ़ और सुघडताके साथ पहने हुए इस आदमीको देखकर मन पर कुछ और ही प्रभाव पड़ता है। शरीरको साफ रखने में खर्चका सवाल नहीं उठता। हमारे देशमें आचारको परमधर्म माना है, और वह सबके लिये समान रूपसे आवश्यक है। उसमें शरीरकी सफाईके बारेमें बहुत कुछ कहा गया है; और हमारे यहाँकी दिनचर्यामें उसे महत्त्वका स्थान मिला है। आजकल इस धर्मका व्यावहारिक रूप कहीं-कहीं इतना विकृत हो गया है कि उसे देखकर हँसी आती है, लेकिन उससे शौच या सफाईका महत्त्व और उसकी उपयोगिता कम नहीं होती।

यह सोचना कि बीमारीके बिछौने पर पड़ा हुआ आदमी तो थोड़ी या नाममात्रकी सफाईसे भी अपना काम चला सकता है, एकदम गलत है। अगर बीमार ख़ुद साफ न रहे, उसका बिछौना गन्दा हो, और उसके आस-पास भी स्वच्छताका अभाव हो, तो न सिर्फ उसे अपने आप पर तिरस्कार छूटेगा, बल्कि दूसरोंको भी उसके पास आने और बैठनेमें हिचक मालूम होगी। सफाई एक बढ़ियासे बढ़िया दवा है। मुद्दती बीमारीमें तो उसके बिना बीमारका काम चल ही नहीं सकता। पचगनी-जैसी जगहमें जा कर गन्दा रहनेसे अच्छा तो यह है कि रोगी अपने ही प्रदेश या स्थानमें सफाईके साथ रहे—इससे उसे ज्यादा लाभ हो सकता है।

तन्दुरुस्तीके लिये त्वचा या चमडीका अपना खास महत्त्व है। हवावाले अध्यायमें हम देख चुके हैं कि चमड़ीको जो हवा लगती है, वह कितनी गुणकारक होती है। हवाकी तरह जलका स्पर्श भी गुणकारी होता है। जलचिकित्सा द्वारा रोग मिटानेकी एक पद्धति प्रचलित है, लेकिन यह उसकी चर्चाका स्थान नहीं। आम

तौर पर सफ़ाईके लिये पानीका उपयोग किया जाता है, और उसका उतना उपयोग तो सबको बराबर करना ही चाहिये। शरीर-में रोज़ गन्दगी पैदा होती है, रोज पसीना आता और सूखता है; ऐसी दशामें अगर शरीर साफ़ न रक्खा जाय, तो त्वचा पर पाये जानेवाले सूक्ष्म छिद्रोंकी क्रियामें बाधा पड़ सकती है। पानीका स्पर्श तो क्षयरोगीके लिये भी आवश्यक है। हाँ, तेज बुखारकी या बढ़ी हुई कमज़ोरीकी हालतमें वह नहा नहीं सकता; लेकिन उस दशामें भी पहले गीले कपडेसे और फिर तुरन्त ही सूखे कपड़ेसे शरीरको पोंछ लेना ज़रूरी है। इससे बीमारके सर्दी खा जाने या थक जानेका डर रखना ठीक नहीं। शरीरको पानीके स्पर्श-मात्रसे सर्दी नहीं होती; सर्दी प्रायः तभी होती है, जब शरीरको देर तक हवामें गीला रहना और ठण्डा होना पडता है। चूँकि बीमारका सारा शरीर एकसाथ पोंछा नहीं जाता, और चूँकि ख़ुद बीमारको अपने हाथों यह काम नहीं करना पड़ता, इसलिये अगर हलके हाथों बदन पोंछा जाय, तो बीमारके थकनेकी कोई संभावना नहीं रहती। अगर ठण्डा पानी सहन न हो, तो कुनकुनेसे काम लिया जा सकता है; लेकिन खौलता हुआ पानी काममें न लेना चाहिये; उससे थकावट बढ़ती है।

बुखारके उतरने पर तो धीमे-धीमे स्नान करनेकी आदत डाल लेनी चाहिये। शुरूमें रोज़-रोज़ स्नान न किया जा सके, तो दो चार दिनके अन्तरसे नहाना शुरू कर देने पर आहिस्ता-आहिस्ता रोज़ नहानेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि नहाते समय और बदन पोंछते समय दूसरोंकी मदद ली जा सके, तो स्नानके कारण पैदा होनेवाली थकावट कुछ कम की जा सकती है। धीमे-धीमे ताक़त आने पर नहाते समय औरोंकी मदद लेना आवश्यक नहीं

रह जाता। नहानेसे शरीरकी चमड़ी साफ होती है, मुलायम बनती है, उसका स्पर्श सुखद मालूम होता है, शरीरमें फुर्ती आ जाती है और चित्त प्रसन्न रहने लगता है। स्नानके गुण अनुभवसिद्ध हैं। क्षयके बीमारको अकारण ही लम्बी मुद्दत तक स्नानके लाभसे वञ्चित न रहना चाहिये।

दाँत और जीभकी सफाई दिनमें एक बार तो विशेष रूपसे, ध्यानपूर्वक, करनी ही चाहिये। अगर ये गन्दे रहते हैं, तो इनकी गन्दगी पेटमें पहुँचकर हाजमेको बिगाड़ती है। सोनेसे पहले कुल्ले कर लेने चाहिये। कुल्लोंके लिये सादा पानी काफी है। कुल्लोंसे दाँतोंमें घुसी हुई जूठन वगैरा साफ हो जाती है, मुँहके अन्दर नमी रहती है और गलेमें खुश्कीका अनुभव नहीं होता। हर बार भोजनके बाद मुँह अच्छी तरह धोना चाहिये। मुखशुद्धिके लिये हमारे यहाँ पानसुपारी वगैरा खानेका रिवाज है, लेकिन सच्ची मुख-शुद्धिके लिये इनकी आवश्यकता नहीं। मुखशुद्धिका सबसे अच्छा और आरोग्यवर्धक साधन तो पानी ही है। मुँह रेलगाड़ीका इंजन नहीं, कि उसमें कोयलोंकी तरह दिनभर कुछ-न-कुछ झोंका जाय। बीमारको तो इस आदतसे मुक्त ही रहना चाहिये।

जब फेफड़ोंमें कफ पैदा होने लगे, तो उसे अन्दरका अन्दर इकट्ठा न होने देना चाहिये, और न उसे बाहर निकालने या थूकनेमें थोड़ी भी अरुचि या उकताहटसे काम लेना चाहिये। अगर कफ फेफड़ोंमें भरा रह जाय, तो वह वहाँ बोझ-सा बन जाता है, श्वासोच्छ्वासमें रुकावट पैदा करता है, फेफड़ोंके स्वस्थ भागको अस्वस्थ बनाता है, और छातीमें घबराहट-सी पैदा करता है। इस कफको जहाँ-तहाँ थूकना ठीक नहीं। जहाँ-तहाँ थूकनेसे आस-पासकी जगह इतनी घिनौनी हो जाती है, कि सफाईपसंद

आदमी वहाँ ठहर नहीं सकता। इसलिये कफ या बलग़मको उगालदान या पीकदानमें ही इकट्ठा करना चाहिये और उसके विषको नष्ट करनेके लिये उगालदानमे 'लाइसोल' या कार्बोलिकका पानी रखना चाहिये। उगालदानके बलग़मको कूडे-कचरेकी तरह जला डालना चाहिये और उगालदानको भी खौलते पानीसे अच्छी तरह धोकर साफ़ रखना चाहिये।

साफ़ और गन्दे कपडेका भेद स्पष्ट है। जब अच्छे धुले हुए कपडे सफाईके साथ पहने जाते हैं, तो वे मनको एक अजीब-सा सुख पहुँचाते हैं। जहाँ गन्दगी है, वहाँ ग़म है—उदासी है।

पहननेके कपड़ोकी भाँति ही ओढ़ने-बिछानेके कपडे, कमरा और कमरेकी तमाम चीज़ें भी साफ़ रखनी चाहियें। कमरा रहने लायक तभी मालूम होता है, जब उसमें ज़रूरतकी चीज़ें ही रहती हैं; नहीं तो वह भी फर्नीचरकी या पंसारीकी दूकान-सा मालूम होता है।

आरामके दिनोंमें रोगीको बाहरकी सृष्टिके विविध वातावरणका लाभ सुलभ नहीं होता; उसकी हालत कैदखानेके क़ैदियो—जैसी होती है। इसलिये उसके आसपास जितनी स्वच्छता रक्खी जाय, उतना ही उसका जीवन सरल और सुखद बनता है। स्वच्छतासे रोगीकी आशाको पोषण मिलता है।

२०

औषधि और अन्य उपचार

क्षय पर विजय पानेके लिये आरामके सिवा दूसरा कोई राजमार्ग नहीं।-हरसाल तरह-तरहकी दवायें और तरह-तरहके इलाज सामने आते हैं और गायब हो जाते हैं; लेकिन अभीतक ऐसी कोई दवा हाथ नहीं आई, जो इस बीमारीको जड़से साफ करती हो। इससे पहलेके अध्यायोंमें यह बताया जा चुका है कि क्षयसे बचने और अच्छे होनेकी एक मात्र सम्भावना इसीमें है कि रोगी अपनेको कुदरतकी गतिके अधिक-से-अधिक अनुकूल बना ले। फिर भी कई चीज़ें क्षयकी रामबाण दवाके रूपमें दुनियाके सामने आती हैं, और इसकी ज़डमें और-और बातोंके सिवा बीमारकी अपनी और उसके सगे-सम्बन्धियोंकी रुचि और वृत्ति भी मुख्य होती है। लोगोंके दिलमे यह शंका उठती है कि क्षय जैसी बीमारीसे कोई बिना दवाके कैसे अच्छा हो जायगा? और इस शकाके फलस्वरूप लोग अनेक तरहकी दवाओंका इस्तेमाल बढ़ा देते हैं। जिस तरह बिना दवाके काम न चलनेकी झूठी धारणासे लोग दवाके पीछे दौड़ते हैं, उसी तरह झटपट अच्छे हो जानेकी इच्छा और उससे पैदा होनेवाली अधीरता भी उन्हें दवाकी ओर ले जाती है। दवा खाई जाय या न खाई जाय, इसमें कोई शक नहीं कि क्षयका बीमार दो चार दिनमें, दो चार हफ्तोंमें या दो चार महीनोंमें स्वस्थ नहीं हो सकता। कई दवाओंके बारेमें लोग यह कहते सुने जाते हैं कि वे अगर

गुण न करेंगी, तो अवगुण भी न करेंगी, इसलिये उनका सेवन करनेमें कोई हर्ज़ नहीं। लेकिन लोगोका यह ख़याल ग़लत है। शरीर कोई गटर नहीं, कि जिसमें जानी–अनजानी, भली–बुरी हर तरहकी चीज़ें, जब मन चाहा, डाल दीं। शरीर इसे वर्दाश्त नहीं कर सकता। दवायें एक तरहका अर्क होती हैं; जिन दवाओंके गुण–दोषका हमें पना न हो, और जिनसे लाभ होनेकी संभावना न हो, उनको सिर्फ़ अपना मन मनानेके लिये शरीरमें उँडेलते रहना उचित नही। सभी दवायें शरीरके सूक्ष्म और बहुविधतंत्रको अपने तापसे तपाती हैं, और यह तो सभी जानते हैं कि एक अर्से तक उनका उपयोग करते रहनेसे अन्तमें वे नुक़सान पहुँचाती हैं। जब रोग अपनी गतिके कारण शरीरको बुरी तरह झकझोर और तपा रहा हो, तब निकम्मी दवाओंके प्रयोग द्वारा शरीरके उस तापको अधिक उग्र बनानेसे अन्तमें परेशानी ही पल्ले पड़ती है।

क्षयकी जड़को निर्बल बनानेवाली एक भी दवा आजतक नहीं निकली। मतलब यह कि रोगके लक्षणोंको मिटानेमें दवा कम ही काम आती है। आराम आदिके योगसे शरीरमें रोगके विषका संचार ज्यों-ज्यों कम होता है, त्यों-त्यों रोगके लक्षण कमज़ोर पड़ते जाते हैं। जब रोगके लक्षणोसे रोगी ख़ूब त्रस्त हो उठता है, तो उस त्रासको सह्य बनानेके लिये कभी-कभी दवा दी जाती है; लेकिन दवाका यह उपयोग क्षणिक आराम पहुँचानेकी दृष्टिसे ही होता है। अतएव इष्ट यही है कि यह उपयोग कम-से-कम हो।

क्षयका नाश करनेके लिये समय-समय पर अनेक 'इंजेक्शनों' (पिचकारियों)का भी प्रचार होता रहता है। इनमेंसे कुछ तो रोगको

उभाड़ने या भड़कानेवाले होते हैं, और अकसर रोगीको बेहद नुकसान पहुँचाते हैं। घातक न होने पर भी बीमारीका यह उभाड़ प्रायः असह्य हो जाता है और उसकी मुद्दतको बढ़ा देता है। तीव्र उपचार या तो तारक होते हैं या मारक। ये किसको तारते और किसको मारते हैं, कोई कह नहीं सकता। इसका सारा आधार बीमारकी अपनी जीवनी-शक्ति पर है, और इस शक्तिका माप जाननेका कोई साधन नहीं। अभीतक कोई मोहक, चमत्कारिक या तात्कालिक परिणाम पैदा करनेवाला तरीका या रास्ता हाथ नहीं आया। छोटे माने जानेवाले रास्ते प्रायः लम्बे, बहुत ही लम्बे, साबित हुए हैं। जोखम उठाने और प्रयोग करनेकी वृत्ति, शक्ति और अनुकूलता सबके लिये साध्य नहीं होती—सबमें पाई भी नहीं जाती। अगर रोगी दवाओंके चक्करमें न फँसे और तड़कीले-भड़कीले, शानदार, अचरज भरे और दिखनौटे इलाजोंकी मायामें अपना मन न रमाकर सीधी, सस्ती, सरल और परिणाममें हितकारी दिनचर्याको अपनावे, तो उसके उज्ज्वल भविष्यकी पूरी आशा रक्खी जा सकती है। "विना दवाके केवल पथ्य द्वारा व्याधि दूर होती है; परन्तु पथ्यके अभावमें सैकड़ो दवायें भी व्याधिको दूर नहीं कर पातीं"। बंगसेनका यह कथन क्षयके संबंधमें तो अक्षरशः सच है।

२१

युक्त श्रम

जिस प्रकार बिना आरामके क्षयका उपचार नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना युक्त श्रमके वह उपचार अपूर्ण और अपरिपक्व रहता है। ढाल के दो पहलुओंकी तरह आराम और कसरत भी इलाजके दो ऐसे पहलू हैं, जो एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। जबतक रोगकी थकावट दूर न हो, बुखार न उतरे, नाड़ी और श्वासोच्छ्वासकी गतिमें सुधार न हो, तबतक बीमारको यथार्थ आराम करना चाहिये। जब रोगका विष शरीरका शोषण करना छोड़ देता है, तो रोगीके लिये व्यायाम या कसरतका समय आता है। जिस समय रोगका विष प्रबल होता है, उस समय शरीरकी क्रियामें समताकी कमी रहती है; ऐसी दशामें कसरत या मेहनत करना जानबूझ कर आगमें कूदना है। 'टायफॉइड' जैसी बीमारीमें जब रोगके लक्षण नष्ट हो जाते हैं और रोगीको अच्छा मालूम होने लगता है, तो उस समय तक रोगके घाव भी भर चुकते हैं; लेकिन क्षयमें हालत ठीक इससे उलटी होती है। जब बुखार-जैसे बाहरी लक्षण मौजूद रहते हैं, तो फेफड़ोंकी क्षयग्रन्थियोंमें स्वस्थता नहीं आती, यही नहीं, बल्कि ग्रन्थिजन्य विष शरीरमें घूमता रहता है। ग्रन्थियोंके घावोंके भरनेकी क्रिया तभी शुरू होती है, जब रोगके लक्षण दब जाते हैं और रोगीको अच्छा मालूम होने लगता है। फिर, घावोंके भरनेकी यह क्रिया बहुत ही धीमी होती है, इसलिये लम्बे आरामके बाद परिश्रम शुरू करते समय और उसकी

मात्रा बढ़ाते समय बहुत सावधानी और सजगतासे काम लेना पड़ता है। संक्रान्तिका यह समय रोगीके लिये बहुत ही होशियार रहनेका समय होता है। यदि रोगके लक्षणोंके दबते ही वह अपनेको रोगमुक्त समझकर मनमाना आहार-विहार करने लगे, तो दबे हुए लक्षण फौरन प्रकट हो जाते हैं और बीमारी बढ़ जाती है। हमें इस बातका ठीक-ठीक ध्यान रखना चाहिये कि आरामकी तरह कसरत भी चिकित्साका ही एक अंग है। दवाकी खुराककी तरह कसरत भी एक खुराक ही है। उसका असर देखकर उसे घटाया-बढ़ाया जाता है। कसरतको खुराक कहनेमें मैं किसी आलंकारिक भाषाका उपयोग नहीं कर रहा, बल्कि जो हकीकत है वही कह रहा हूँ।

लगातार आठ दिन तक चौबीसों घण्टे बुखार न रहने पर ही मेहनत या कसरत शुरू की जा सकती है। लेकिन अगर बुखार लगातार एक महीनेसे भी ज्यादा समय तक आता रहा हो, और बुखारके तथा क्षयके दूसरे लक्षण जोरदार मालूम हुए हों, तो बुखार उतरनेके बाद भी दो से तीन हफ्तों तक और कभी-कभी इससे भी ज्यादा समयतक आराम करते रहना हितकर होता है। क्षयके ज्वरको मलेरिया या दूसरे मामूली ज्वर-सा समझकर ज्वरके उतरते ही मेहनत या काम-काज शुरू कर देना खतरनाक है। कसरत शुरू करनेमें कुछ देर हो जाय, तो उससे कोई नुकसान नहीं होता, लेकिन जल्दी करनेसे हानि अवश्य होती है। अगर बहुत ज्यादा ढिलाई की जाय, तो उससे तन्दुरुस्त होनेमें बेकारकी देर लगती है। शरीर-तंत्रको रोगके विषसे लड़ना पड़ता है और उसमें उसे अपनी काफी ताकत लगानी पड़ती है, लेकिन जब यह लड़ाई बन्द हो जाती है, तो शरीरके लिये कुछ करनेको नहीं रह जाता। ऐसे समय रोगी कसरत न करे, तो उसका शरीर शिथिल और अपंग

बन सकता है। समय पर आराम और समय पर कसरत करनेसे ही दोनोंका परिणाम मधुर होता है।

मेहनतका आरम्भ रोज़ सुबह पाँच पन्द्रह मिनट आरामकुर्सी पर बैठकर करना चाहिये, और आस्ते-आस्ते बैठनेका समय बढ़ाते रहना चाहिये। यदि ऐसा करते हुए थकावट न मालूम हो, और बुखार न आवे, तो शुरूमें एकबार और फिर दोबार कुछ गज़ तक चलना शुरू करके धीरे-धीरे फासला बढ़ाते जाना चाहिये। इसतरह मेहनत शुरू करनेका यह मतलब नहीं कि रोगी आराम करना क़तई छोड़ दे। कसरतके समयको छोड़कर बाकी सारा समय तो उसे आराम ही करना है। चलकर आनेके बाद पौन घण्टे तक आराम करना ज़रूरी है। इस तरह थोड़ा समय स्नानके बाद, खानेसे पहले और खानेके बाद, और दुपहरीमें पूरा समय रोगीको आराम करना ही चाहिये।

शुरूमें रोगीको सिवा चलनेके और किसी तरहका कोई श्रम न करना चाहिये। इस बातका निश्चय बड़ी आसानीसे किया जा सकता है कि शुरूमें रोगीको कितनी दूर चलना चाहिये और उसके इस चलनेका असर भी ठीक-ठीक जाना जा सकता है। चलनेका अर्थ भटकना या जहाँ-तहाँ खडे रह जाना नहीं होता। इधर-उधर, जैसे-तैसे, उठ-बैठ कर लेनेसे चलनेका पूरा लाभ नहीं मिलता। शुरूमें समतल जगह पर धीमी चालसे चलना चाहिये। बम्बईमें ब्याहके जुलूसके समय बाराती जिस चालसे चलते हैं, और जो बोलचालमें 'मामेरेकी चाल' कही जाती है, शुरूमें रोगीको उसी चालसे चलना चाहिये। अगर एक घण्टेमें एक मील भी चला जा सके तो बस है। क्रम-क्रमसे इस गतिको बढ़ाते हुए घण्टेमें दो मीलकी गति तक बिना तकलीफ़के पहुँचना चाहिये, फिर चार-पाँच

दिनके अन्तरसे चाल थोडी-थोडी बढ़ानी चाहिये और आस्ते-आस्ते घण्टेमे दो से तीन मील तक चलनेकी शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये। मगर इससे ज्यादा तेजीके साथ चलनेका लोभ करनेसे फिर पटकनी खानेका अँदेशा रहता है। चलते समय शरीर तना हुआ और मुँह बन्द रखना चाहिये। चलनेसे शरीरकी गर्मी बढ़ती है, इसलिये श्रम न करनेकी दशामें शरीरके लिये जितने वस्त्र आवश्यक होते हैं, उससे कुछ कम ही वे श्रमके समय रहने चाहियें। जहाँ तक हो सके, हवाका रुख बचाकर चलनेकी कोशिश करनी चाहिये। चलते या टहलते समय किसी को अपने साथ न रखना चाहिये। चलनेमें कसरत होती है; चलते-चलते बोलनेमें और भी कसरत होती है। इससे चलनेवाला जल्दी थक जाता है। कभी-कभी बातचीतका विषय इतना दिलचस्प हो जाता है कि रोगीको अपनी स्थितिका भान नहीं रहता और अगर चर्चाका विषय विवादास्पद हुआ, तो शरीरके साथ मन भी थक जाता है।

अगर चलते समय बार-बार खाँसी आने लगे, साँस फूलने लगे, या नाकसे साँस लेनेमें तकलीफ होने लगे, और मुँह खोलनेकी इच्छा हो जाय, तो समझना चाहिये कि या तो ज्यादा चला गया है या चलनेकी गति ज्यादा है। ऐसी दशामें तुरन्त ही विश्राम करना चाहिये। श्वासोच्छ्वासकी क्रिया पर ध्यान देनेसे बडी आसानीके साथ यह मालूम हो जाता है कि चलनेमें मर्यादाका पालन हो रहा है या नहीं — कहीं ज्यादा चलाई तो नहीं हो रही। बिछौनेमें लेटे-लेटे साँस जितनी बार चलती है, और जितनी गहरी चलती है, उतनी ही अगर चलते समय भी रहे, तो समझना चाहिये कि चलनेमें अति नहीं हो रही। टहलकर आनेके बाद यह जाननेके लिये कि टहलना ठीकसे हुआ या ज्यादा हो गया, थर्मामीटरसे

शरीरकी गर्मी देखनी चाहिये और नाड़ीकी गति मालूम करनी चाहिये। चलनेसे मुँहकी गर्मी ठीक-ठीक नहीं बढ़ती, कुछ बीमारोंकी गर्मी तो मामूली गर्मीसे भी कम हो जाती है, और कुछकी नाम-मात्रको बढ़ती है। चलनेका असर मालूम करनेके लिये मुँहमें थर्मामीटर रखकर गर्मी देखनेसे ठीक अंदाज नहीं आता। जो इस तरीकेसे गर्मी देखते हैं, उनका खयाल है कि चलकर आनेके बाद फौरन ही थर्मामीटर लगाने पर भी गर्मी ९८'४ डिग्रीसे ज्यादा नहीं रहनी चाहिये, अगर ज्यादा हो तो आध घण्टेके आरामके बाद वह कम हो जानी चाहिये। इससे ज्यादा रहे, तो समझना चाहिये कि चलनेमें अति हुई।

लेकिन इससे भी बेहतर तरीक़ा तो गुदामें थर्मामीटर लगानेका है। वहाँ तीन मिनट तक पारेकी नलीको लगाये रखनेसे गर्मीका अंदाज मालूम हो जाता है। इस तरह थर्मामीटरका उपयोग कर चुकने पर उसे चौड़ी बैठकवाली शीशीमें रखना चाहिये, ताकि शीशी हिले नहीं, और थर्मामीटरको चोट पहुँचे नहीं। शीशीके पेंदेमें रुई भर देनेसे पारेकी नलीके टूट जानेका खतरा नहीं रहता। थर्मामीटरको साफ रखनेके लिये शीशीमें कार्बोलिकका पानी भर देना चाहिये। दस तोला पानीमें आधा तोला कार्बोलिक मिलानेसे उसका आवश्यक मिश्रण तैयार हो जाता है। अगर कार्बोलिक न हो, तो साबुनका ठण्डा पानी रखना चाहिये। उपयोग करनेसे पहले थर्मामीटरको साफ ठण्डे पानीसे धो लेना चाहिये।

इस तरीक़ेसे गर्मी देखनेकी दो पद्धतियाँ हैं; एक, चलकर आनेके बाद तुरन्त देखनेकी, और दूसरी विश्रामके पौन घण्टे बाद देखनेकी। दोनो पद्धतियोंसे काम लेना ज़रूरी नहीं। अगर आते ही देखी जाय, तो गर्मी १००'४ डिग्रीसे ज्यादा न होनी चाहिये,

और, पौन घण्टेके विश्रामके बाद ९९ डिग्री या उससे भी कम होनी चाहिये। नाडीकी गति भी विश्रामके अन्तमें ९० के अन्दर रहनी चाहिये। अगर गर्मी और नाडीका अन्दाज़ रोज़-रोज़ एकसाँ आता रहे, तो उसे सुधारका शुभ लक्षण समझना चाहिये। अगर इसमें कभी-कदास क्षणिक हेर-फेर मालूम पड़े, तो फासला बढ़ाना न चाहिये। इस क्रमसे रोगी धीमे-धीमे एक बारमें तीनसे चार मील तक चलने लगता है, कुछ लोग एक साथ छहसे आठ मील भी चलते हैं और कुछ एक दिनमें १० मीलसे ज़्यादा चलनेकी ताकत पा लेते हैं। लेकिन सब बीमारोंकी शक्ति एक-सी नहीं होती, हरएककी शक्तिमें तर-तमका भेद रहता ही है, इसलिये ज़रूरत इस बातकी है कि दूसरोंको देखकर या सुनकर न तो लोभमें पड़ना चाहिये और न हदसे ज़्यादा बढ़ना चाहिये।

जब समतल मैदानमें चलना सरल हो जाय, तो आस्ते-आस्ते चढ़नेका सिलसिला शुरू करना चाहिये। सीढ़ियाँ चढ़नेकी अपेक्षा मामूली चढ़ाई चढ़ना आसान होता है। सीढ़ियोंका उपयोग कम ही करना चाहिये। अगर चढ़ाई सख्त और सीधी सीढ़ी जैसी हो, तो वह सधती नहीं और हदसे ज़्यादा हो जाती है। चढ़नेकी कसरत भी क्रम-क्रमसे बढ़ानी चाहिये। जैसे-जैसे शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे होशियारीके साथ दूरी और चढ़ाई भी बढ़ाई जाती है, एक साथ ५०० और ६०० फीटकी चढ़ाई भी चढ़ी जा सकती है। जहाँ चलनेके लिये समतल जगह न हो वहाँ चलना शुरू करते समय चढ़ने, और खतम करते समय उतरनेका क्रम रखना इष्ट है, इस तरीकेसे थकनेकी नौबत नहीं आती। जब चलते-चलते थकावट-सी मालूम हो, तो फौरन रुककर थोड़ा दम ले लेना चाहिये, इस तरह और इतना ज़्यादा न चलना चाहिये कि चलते-चलते शरीर गरम हो उठे।

जैसे-जैसे चलना अनुकूल होता जाता है, वैसे-वैसे बदनमें फुर्ती आने लगती है और मनं प्रफुल्ल रहने लगता है। इस आशाजनक स्थितिमें सजग रहना बहुत जरूरी है; क्योंकि यही वह स्थिति होती है, जब रोगी भूल-सा जाता है कि उसे क्षय हुआ था और वह तन्दुरुस्त आदमीकी तरह बरतने लग जाता है। जिस तरह चाकूके लगते ही अँगुलीसे ख़ून बहने लगता है, अतिशयताका ठीक वैसा असर नहीं होता। उसका बुरा परिणाम धीमे-धीमे बढ़ता जाता है, और जिस तरह लद्दू जानवर पर बोझ लादते-लादते अन्तमें फूल-सा हलका बोझ रखते ही वह बैठ जाता है, उसी तरह जब अतिके कारण शरीररूपी तंत्रको एक-एक करके अनेक आघात लगते रहते हैं, तो अन्तमें किसी दिन अकस्मात् किसी तुच्छ-से कारणको लेकर उसकी गति रुक जाती है और बीमारी फिर खड़ी हो जाती है। तन्दुरुस्तीकी हालतमें हदसे ज्यादा मेहनत करनेके कारण ही क्षयका आरम्भ होता है, और क्षयसे सभलने पर फिर वही अति रोगीको पछाड़ती है। क्षयके बीमारको श्रम इस तरह करना चाहिये कि जिससे कभी थकावट न मालूम हो। उसे कभी थकना न चाहिये; शरीरको सदा फुर्तीला और तरोताज़ा रहना चाहिये।

जिस तरह चलनेमें एक प्रमाण और योजनासे काम लिया जाता है, और क्रम-क्रमसे गति व दूरी बढ़ाई जाती है, उसी तरह शरीरश्रम करते समय भी प्रमाण और क्रमसे काम लेनेकी जरूरत रहती है। यदि रोगी वज़न उठाने और शरीरश्रमका ऐसा ही कोई दूसरा काम मनमाना करने लगे, तो उसे बेहद नुकसान होता है। क्षयका बीमार भी धीरे-धीरे शरीरश्रम करनेके योग्य बनता है, लेकिन इसके लिये उसे एक मार्गदर्शककी आवश्यकता रहती है;

नहीं तो अच्छा करनेकी कोशिशमें आदमी अपने हाथों अपना बुरा कर लेता है। शरीरश्रमकी आदत डालना हितकारक है, बशर्ते कि महीनोंकी मेहनतके बाद प्राप्त की गई शक्ति क्षणभरमें नष्ट न होने देनेकी पूरी सावधानी रक्खी जाय।

परिश्रम-सम्बन्धी एक प्राचीन उक्ति क्षय रोगीके लिये तो अक्षरशः सच है। जबतक उसका उल्लंघन नहीं होता, प्रायः पछतानेका अवसर नहीं आता। उक्ति है: **प्राक् श्रमात् विरजेत्।** अर्थात् थकनेसे पहले रुक जाना चाहिये।

आदमी जितना कमाता है, उतना ही अगर खर्च भी कर डालता है, तो वह व्यवहारकी एक बड़ी गलती करता है, और खर्चके आकस्मिक अवसरोंका सामना न कर सकनेके कारण वह तुरन्त घबरा जाता है। यही हाल शक्तिका है। जैसे-जैसे ताकत आती और बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यदि रोगी उसे खर्च भी करता चले, तो उसके हाथों आसानीके साथ, अनजाने ही, मर्यादाका उल्लंघन हो सकता है। अगर वैसा न भी हो, तो असाधारण अवसरोंका सामना वह डटकर कर नहीं सकता। वह देखता है कि उसकी शक्ति अचानक लुट गई है और वह फिरसे पटकनी खा गया है। अतएव रोगीको एक कुशल व्यापारी की तरह अपनी शक्तिका संचय करना चाहिये, सारी शक्ति एक साथ नष्ट न करके उसे सञ्चित रखना चाहिये।

चलना-फिरना शुरू करनेके बाद अगर फिरसे सुबह-शामका 'टेम्परेचर' कुछ बढ़ा हुआ मालूम पड़े, तो चलना बन्द करके तुरन्त आराम करना चाहिये। सुबह उठते ही ९८ या उससे ज्यादा और शामको आरामके बाद ९९.२ या उससे बेशी टेम्परेचर रहने लगे, तो समझना चाहिये कि अब आरामके बिना गति नहीं। जब

आरामके फलस्वरूप बुखार उतर जाय तो फिर नियमसे प्रमाणपूर्वक चलना शुरू किया जा सकता है।

यदि क्षयका पता चलते ही सम्पूर्ण आराम किया जाय, किसी तरहकी लापरवाही और उपेक्षासे काम न लिया जाय, नियम-पूर्वक मर्यादित श्रम करनेकी आदत रक्खी जाय, और थकनेसे पहले मेहनत बन्द कर दी जाय, तो उपचारके दिनोंमें रोगीको फिर शायद ही बीमार पड़ना पड़े। आरामके फलस्वरूप जो थकावट उतर जाती है, वह हमेशा उतरी रहे, और फिर थकावटका अनुभव न हो, यानी रोगी अपने व्यवहारमें इतना जाग्रत रहे तो क्षयग्रस्त रहने पर भी उसे विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

२२

निवृत्तिमें प्रवृत्ति

ज्योंही क्षय प्रकट हो और पहचान लिया जाय, रोगीको चाहिये कि वह अपने जीवनकी अनेक प्रवृत्तियोको समेट ले, जिम्मेदारियों और कर्त्तव्योंसे मुक्त हो जाय और अपना सारा ध्यान रोगसे बचनेके एक मात्र कार्यमें लगा दे। इस तरह जबर्दस्ती निवृत्तिको अपना लेनेके बाद भी रोगी बिलकुल शून्यवत् या जडवत् नही बन जाता, न वैसा बननेकी ज़रूरत ही है। उलटे, सजग रहकर उसे यह देखना चाहिये कि कहीं वह वैसा बन न जाय। यदि मनको इस या उस तरीकेसे किसी न किसी काममें लगाया न जाय, तो वह निरुद्देश्य भटकने लगता है, उसकी शक्ति कम हो जाती है और वह कायरताका शिकार बन जाता है। "कायरता मनकी एक गंभीर बीमारी है, वह मनकी सकल्पशक्तिको कुरेदकर खा जाती है और प्रगतिमें बाधक होती है" (डॉ० पिगने)। इससे व्यक्तिकी कार्यशक्ति एकदम कम हो जाती है और आगे चलकर यही शत्रुका काम करती है। क्षयके कारण क्षत-विक्षत फेफडोंको स्वस्थ बनानेके यत्नमें कहीं मन मुर्दा न बन जाय, इसकी चिन्ता फेफडोंकी चिन्तासे भी ज्यादा रखनी चाहिये। फेफडोंकी हालत तो सुधर जाय, मगर मनोबल नष्ट हो जाय, तो आदमी स्वतंत्र रूपसे कुछ करने लायक नही रह जाता और फलत वह दुनियामें बोझ-रूप बन जाता है। फिर उसे जीवनमें पग-पगपर अपमान और तिरस्कारका सामना करना पडता है।

रोगीको दुहेरी सजगतासे काम लेना पड़ता है; एक ओर उसे यह देखना पड़ता है कि मन उसका अच्छी हालतमें रहे; दूसरी ओर यह खयाल रखना पड़ता है कि उससे ऐसा कोई काम न हो जाय, जो रोगके लक्षणोंको मिटानेमें और फेफड़ोंके घावको भरनेमें बाधक हो।

जब रोगी रोगके आरम्भमें बिछौने पर पड़ा रहता है, तब भी बुखार वगैरा लक्षण तो उसमें पाये ही जाते हैं। जैसे-जैसे इलाज कारगर होता जाता है, क्रम-क्रमसे ये लक्षण घटते और दबते हैं, लेकिन एकदम इतने नहीं दब जाते कि रोगी चलने-फिरने लग सके; अन्तमें जाकर रोगके लक्षण पूरी तरह दब जाते हैं और रोगी धीरे-धीरे अधिकाधिक चलने-फिरने लायक बन जाता है। शय्यावश रहते हुए भी जब तक रोगके लक्षण प्रकट रहते हैं, तबतक शरीर और मनसे जितना आराम किया जाय, करना चाहिये। उस दशामें रोगीको किसी तरहकी कोई प्रवृत्ति न करनी चाहिये—कर्ता न बनना चाहिये। उकताहट और परेशानीसे बचनेके लिये यदि वह अपने भरसक क्षण-क्षणमें 'शान्त आनन्द'का अनुभव करे, तो आखिर उससे कोई हानि नहीं होती। ऐसी अवस्थामें रोगी मनोरंजन करनेवाले चित्र देख सकता है और मनको प्रसन्न करनेवाली बातें सुन सकता है। यही उसका 'शान्त आनन्द' है।

अपना समय बिताने और दु:ख भूलनेमें संगीत क्षयरोगीकी बड़ी सहायता करता है। अपनी इस स्थितिमें वह ख़ुद तो न गा सकता है, न बजा सकता है। लेकिन यदि उसके मित्र या स्नेही उसे कुछ सुनावें, तो उससे उसे अवश्य लाभ होता है। इसके लिये यह ज़रूरी नहीं कि रोगी संगीतशास्त्रका ज्ञाता हो। रंग-बिरंगे पक्षियोंका कलरव, समुद्रकी लहरें और वृक्षोंके आन्दोलनसे उत्पन्न होनेवाली

ध्वनि किन कानोंको आकर्षित नहीं करती? अगर यह कहा जाय कि संगीतका अंश मनुष्यमात्रमें मौजूद रहता है, तो वह गलत न होगा। दिलरुबा या सितार जैसे तन्तुवाद्योंका मृदु-मधुर स्वर रोगीके लिये निश्चय ही शान्तिदायक होता है।

यह तो स्पष्ट है कि संगीतका अथवा अन्य किसी भी वस्तुका आनंद लेते समय रोगीको किसी तरहकी धाँधली या उतावली न करनी चाहिये।

बुखार वगैरा लक्षणोंके कम हो जाने पर रोगी चाहे तो कुछ-कुछ पढ़ना शुरू कर सकता है। लेकिन उसे ऐसी कोई चीज न पढ़नी चाहिये, जिसमें मनको एकाग्र करना पड़े, जिसे समझनेकी खास कोशिश करनी पड़े, जो मनमें जोश पैदा करे और उसे उत्तेजित या खिन्न कर दे, या जो इतनी दिलचस्प हो कि एक बार शुरू करने पर फिर अधबीचमें छोड़नेका दिल न हो। इसी तरह ऐसी कोई चीज भी न पढ़नी चाहिये, जो थकावट पैदा कर दे। पढ़नेसे पैदा होनेवाली थकान कोई मामूली थकान नहीं होती। रोगीको वज़नी पुस्तकें भी न पढ़नी चाहियें। ऐसी पुस्तकोंको हाथमें रखकर या पेट और छातीके सहारे रखकर पढ़नेसे थकान पैदा होती है और हाथ दुखने लगते हैं। जहाँ तक हो सके रोगीको वे ही पुस्तकें पढ़नी चाहियें, जिनसे उसका मन बहले, पर थकावट न मालूम हो — ऐसी पुस्तकोंमें, इतिहास, यात्रा, भ्रमण, वनस्पति, पशु-पक्षी आदिसे सबंध रखनेवाली पुस्तकें अच्छी मानी जाती हैं। रोगी चाहे, तो वह ताश के सादे खेल भी खेल सकता है। बीच-बीचमें, रह-रह कर, और भी ऐसे ही अनुकूल काम कुछ-कुछ किये जा सकते हैं, लेकिन कोई भी काम एक साथ देर तक नहीं किया जा सकता। ऐसा करनेसे रोगीको आराम नहीं मिलता और

रोग भी कम नहीं होता ।' मनोरंजनके लिये जो भी प्रबंध किया जाय, उसमें थकानेवाली कोई चीज़ न होनी चाहिये, न ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित होना चाहिये कि जिसमें रोगीको ज़ोर लगाना पड़े; बढ़ते हुए बुख़ारमें या उससे पहले भी इस तरहका कोई आयोजन न होना चाहिये ।

जब रोगी बिछौना छोड़ने लायक हो जाता है, तो उसे अपने मनोरंजनके लिये अधिक विविधता मिलने लगती है । यही समय है, जब रोगीको ख़ास तौर पर अतिसे बचना चाहिये । इस स्थितिमें रोगी अपनी रुचिके अनुसार अपने मनबहलावका साधन चुन सकता है । लेकिन चुनावमें उसे कुछ मर्यादाओंका पालन ज़रूर करना चाहिये । जैसे, आहार-विहारके, खुली हवामें रहने-सहनेके, और आराम वग़ैराके नियम उसे न तो छोड़ने चाहियें और न तोड़ने चाहियें। उसे जलसो, सम्मेलनो और नाटकघरोंकी भीड़से बचना चाहिये । जहाँ-तहाँ, जो चाहा, सो खानेसे परहेज करना चाहिये, और बेअंदाज मेहनत भी न करनी चाहिये । उसे सच्चे अर्थोंमें अपनी शक्तिका संचय और उसकी रक्षा करनी चाहिये। रुपये-पैसोंके प्रबन्धकी तरह जब शक्तिका प्रबन्ध भी कुशलता और किफ़ायतके साथ किया जाता है, तो दिवालिया बननेकी नौबत नहीं आती। क्षय क्या है? शक्तिका दिवाला ही तो! रोगीका काम है कि वह इस दिवालेसे अपना पिंड छुड़ाकर फिरसे ताक़तका धनी बने और उस धनको हाथसे न जाने दे।

इलाजके दिनोंमें सम्भोग वर्ज्य माना जाना चाहिये । कारण इसका प्रकट और स्पष्ट ही है । इलाजके बाद भी इस विषयमें मर्यादा-का जितना ध्यान रक्खा जाय, उतना ही हितकर है । पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीके लिये सम्भोग अधिक कष्टकारक हो सकता है; क्षयसे

बची हुई स्त्रीका कुछ ही समय बाद फिर गर्भवती होना उसके शारीरिक सुखका घातक है।

निवृत्तिमें प्रवृत्ति भी (यानी कुछ न करते हुए भी कुछ न कुछ करते रहना) उपचारका एक अंग होना चाहिये। मगर ध्यान रहे कि कहीं इस प्रवृत्तिके कारण पुनः दिवालिया बननेकी नौबत न आये, इसके लिये रोगीको श्रमकी मर्यादा समझ और सीख लेनी चाहिये। कोई तीसरा आदमी यह मर्यादा निश्चित नहीं कर सकता, इसका खयाल तो रोगीको खुद होना चाहिये, दूसरा कोई उसे यह ज्ञान नहीं दे सकता। जबतक श्रमकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं होता, चिन्ताका कोई कारण नहीं रहता। थकावट सिर्फ शारीरिक ही नहीं होती। मनकी बेचैनी भी थकानका ही एक अंग है। अगर भूल या गफलतसे थकावट पैदा करने जितना कोई काम हो जाय, तो तुरन्त आराम करना चाहिये और जबतक थकावट पूरी-पूरी उतर न जाय तथा शरीर और मनमें ताजगी और स्फूर्तिका ठीक-ठीक संचार न हो जाय, तबतक आराम जारी रखना चाहिये। क्षयके रोगीके लिये हमेशा श्रमकी मर्यादामें रहना एक ऐसी ढाल है, जो इलाजके दिनोंमें और उसके बाद भी कई तरहके आघातोंसे उसकी रक्षा करती है।

२३
नियमनिष्ठा

क्षयका इलाज इतना तो सरल है कि लोगोंको उसकी अमूल्यता पर एकाएक विश्वास नहीं होता। कुछ तो उसे अपनाते ही नहीं; कुछ अपनाकर अधबीचमें छोड देते हैं, लेकिन जो उसे दृढ़तापूर्वक अपनाते और अन्त तक उस पर क़ायम रहते हैं, वे सहीसलामत पार उतर जाते हैं, यदि दूसरे विघ्न बाधक न हों। इलाजकी सफलताका आधार जितना उसकी उपयोगितामें है, उतना ही उसका नियमपूर्वक पालन करनेमें भी है। जड़-सी प्रतीत होनेवाली सृष्टिके सारे कार्य नियमानुसार होते हैं, जगत्‌का जीवनदाता सूर्य भी नियमबद्ध है; यही कारण है कि जगत् की गतिमें थोड़ी भी उलझन पैदा नहीं होती। मनुष्यका संसार--समाज--भी नियमाधीन है। जब नियमिततामें किसी प्रकारकी शिथिलता आ जाती है, तो समाज पर तुरन्त ही उसका प्रभाव पड़ता है। राज्यमें उपद्रव खडे हो जाते हैं, या कोई शत्रु आक्रमण कर देता है और लड़ाई छिड़ जाती है, तो उस समयकी असाधारण स्थितिका सामना करनेके लिये और राष्ट्रकी रक्षाके विचारसे, प्रजाके व्यवहारको विशेषतया मर्यादित बनानेवाले नियमोंका निर्माण करना पड़ता है। इसी तरह जिस व्यक्तिके शरीरमे समूचे शरीरको स्वाहा कर जानेवाला क्षयरूपी शत्रु एक वार संचार कर जाता है, उसके लिये तो वह स्थिति राज्य पर बाहरी शत्रुके आक्रमणके समान ही विकट होती है। इसलिये उसे अपनी देहकी रक्षाके लिये विशेष रूपसे नियमित बनना चाहिये। जिस तरह महावत मदोन्मत्त हाथीको अपने अंकुशकी मददसे वशमें

रखना है, उसी तरह रोगीको रोग पर काबू पानेके लिये अपने आपको अंकुशमे रखना चाहिये । इसमे कोई शक नहीं कि बिना अंकुशके क्षय पर विजय पाना और उसे विजित बनाये रखना संभव नहीं, क्षयको दबानेके लिये यदि रोगी नियमनिष्ठ न बना, तो स्वय नष्ट हो जाता है ।

जब एक बार क्षय जाग्रत हो लेता है, तो फिर उसकी जकडमें फँसा हुआ व्यक्ति दूसरोंका अनुकरण नहीं कर सकता । उसके जीवनमें हमेशाके लिये एक परिवर्तन हो जाता है । दूसरे लोग अनियमित रहकर भी शायद अपना काम चला सकते हैं, लेकिन क्षयरोगीके लिये अनियमितता यदि घातक नहीं सिद्ध होती, तो भी अनेक प्रकारसे दुखदायक तो होती ही है । रुक-रुक कर, थोडा-थोडा इलाज करानेसे कोई लाभ नहीं, इलाज तो लगातार एक निश्चित योजनाके अनुसार होना चाहिये ।

पुराणोमें इन्द्रलोककी अप्सरायें योगियोंको उनके योगसे चलित करनेके लिये मृत्युलोकमें आती हैं; उसी तरह क्षयरोगीको भी उसके कुछ हितैषी सद्भावसे किन्तु अज्ञानवश ललचाते हैं, आवश्यक नियमोंको तोड़नेकी प्रेरणा करते हैं, नियमोंका मज़ाक उडाते हैं, और उनके प्रति अपनी अरुचि दिखाते हैं । यदि रोगी इन सबके बावजूद भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहता है और परेशान या दिक़ नहीं होता, तो निश्चय ही वह अपना बहुत हित करता है । यदि इस रोगसे अपरिचित हितैषियोको रोगके भीषण परिणामोंका ज्ञान न हो, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं । वे बेचारे क्या जाने कि क्षयके कारण आदमी कितना कमज़ोर हो जाता है, उसके शरीरमे सदाके लिये क्या-क्या परिवर्तन हो जाते है, खोई हुई शक्तिको पुनः प्राप्त करनेमें उसे कितनी अथक मेहनत करनी

पड़ती है, और रोगके दबने पर जो शक्ति प्राप्त होती है, वह किस प्रकार नियमके अभावसे और अतिशयताके परिणामसे बातकी बातमें नष्ट हो जाती है: उस शानदार मकानकी तरह जो बिजलीके गिरते ही पलमें खाक़ हो जाता है। मनको मोहनेवाले अनेक प्रकारके प्रलोभन रोगीके स्मृति-पट पर आते और आँखोंके सामने प्रत्यक्ष-से खड़े हो जाते हैं; लेकिन जिसे एक बार क्षयके चक्कर पर चढ़ना पड़ा है, वह अगर दूसरोंके अज्ञानका शिकार हो जाय, या ख़ुद लालचमें फँसकर चिकित्साके राजमार्गका त्याग कर दे, तो अन्तमें उसका अहित ही होता है।

कभी-कभी स्वयं क्षयके बीमार भी नियमोंका मज़ाक उड़ाते देखे जाते हैं। वे बड़े घमण्डके साथ बिना नियम-पालनके स्वस्थ होनेकी बातें करते सुने जाते हैं। लेकिन दूसरोंके अनुभव जैसेके तैसे कोई अपने जीवनमें उतार नहीं सकता। स्पष्ट ही ऐसा करनेसे पहले अच्छी तरह उन अनुभवोंकी छानबीन कर लेनी चाहिये। क्षय अनेक रूपोंवाला एक व्यापक रोग है। कइयोंमें वह योंही दब जाता है। इसलिये अगर कुछ मामलोंमें नियमकी पर्वा न करने पर भी वह वशमें रहता हो, तो आश्चर्य नहीं; लेकिन सिर्फ इसी कारण नियमोंकी अनावश्यकता सिद्ध नहीं होती। पहले यह जान लेना जरूरी है कि नियमका त्याग या निरादर करनेवाले रोगियोंके रोगकी स्थिति क्या थी। किसीको रोगका संशय या स्पर्श-भर होता है, और कोई रोगमें गले-गले तक फँसा रहता है; तिस पर भी ये सब क्षयके बीमार ही कहे जाते हैं। दूसरोंके अनुभवसे अपने उपयोगकी चीज़ ग्रहण करनेमें विवेकसे काम लेना चाहिये। यदि नियमनिष्ठा सबके लिये समानरूपसे आवश्यक मान ली जाय, तो किसीको अन्तमें पछतानेका कोई कारण न रह जाय।

२४

मनोदशा

वैसे, क्षय हर उम्रके व्यक्तिओंको होता है, लेकिन जवानोंमें वह ज्यादा पाया जाता है। जवानीमें शरीरका पूरा-पूरा विकास हो चुकता है — वह जीवनका प्रवेशकाल होता है। इस उम्रमें अतीत की बातें कम याद आती हैं, भविष्यके स्वप्न अधिक लहराते हैं। वर्षा बाद छलाछल भरी हुई नदीकी तरह मन आशाओं और उमंगोंसे छलका पडता है। वह खाने-पीने और खेल-कूदनेमें मस्त रहता है। गभीरता और सावधानीका अभी अंकुर भी फूटा नहीं होता। जीवनमें किसी प्रकारकी कमी और तंगीका अनुभव नहीं होता, चारों ओर विपुलता और प्रफुल्लता ही नज़र आती है। युवा हृदयको भविष्यके संकटोका कोई खयाल नहीं रहता—वह निर्मल आकाशमें विहरने और किलोल करनेवाले पक्षीकी तरह निर्द्वन्द होता है। ऐसे-में अचानक कोई निष्ठुर पारधी पक्षीको अपने तीरका निशाना बना दे, और पक्षी घायल हो कर नीचे आ गिरे, तो उसकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा उस व्यक्तिकी होती है, जिस पर भरी जवानीमें क्षय अपना निर्मम प्रहार करता है — उस समय भूचालकी तरह एक ऐसा अकल्पित और आकस्मिक दृश्य आँखोंके सामने आ खडा होता है कि आदमी सन्न रह जाता है — मन उसका आकुल-व्याकुल हो जाता है, वह गमगीन हो कर सोचने लगता है . यह क्या हो गया ? आगे अब क्या होगा ? लेकिन

जो अनिवार्य है, उसके लिये अनन्त चिन्ता करने पर भी उसमें रत्ती भर फ़र्क़ नहीं पड़ता। यदि राजरोगी देहमें जागे हुए शत्रुको परास्त करनेके लिये तुरन्त समता और तत्परतासे काम न ले, तो उसे बेहद नुकसान हो सकता है। यदि मन उसका भूतकालकी बातोंमें उलझ जाय और भविष्यकी चिन्तामें डूबा रहे, तो वर्त्तमान की दुर्दशा हो जाय और भविष्य भी खाकमें मिल जाय। लेकिन अगर भूतकालके सन्ताप और अगम्य भविष्यकी चिन्ता छोड़कर वह वर्त्तमानको उसके वास्तविक रूपमें देखे-परखे, सावधानीके साथ क़दम बढ़ाता चले और ठीकसे अपने कर्त्तव्यका पालन करता रहे, तो निश्चय ही उसे एक कड़ी और असह्य परीक्षामेंसे न गुज़रना पड़े। घबरानेसे कुछ भी हासिल नहीं होता; संकट आने पर हिम्मत हारकर बैठ जानेसे निराशा ही पल्ले पड़ती है; पराजय सहज हो जाती है।

जीवनपथमें सदा सरल और सानुकूल नहीं होता। संसारकी सैर करनेवालेको तो रास्तेमें नदी-नाले भी मिलते हैं, मैदान और जंगल भी मिलते हैं, पहाड़ और पर्वत भी मिलते हैं; अगर वह इन सबसे डर जाय तो सैर धरी रह जाय। फिर तो उसे दुनियासे मुँह मोड घरके किसी कोनेमें घुस बैठना चाहिये। लेकिन इस तरह दुनियासे डरकर लस्त-पस्त हो जानेवालेकी दशा नदीके प्रवाहमें बहते हुए पत्तेकी तरह ही दयनीय होती है। बिना प्रयत्नके कभी कुछ भी नहीं मिलता। राजरोगी घोर अन्धकारको भेदकर जीवनका प्रकाश पुनः तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह क्षयसे बचनेके लिये तत्परतासे काम ले और धैर्य न छोड़े।

क्षयके बीमारको अनेक तरहके विचार आया करते हैं — कभी वह अपने लिये सोचता है, कभी अपने परिवारके लिये; कभी

अपने काम-धन्धेकी चिन्ता करता है, तो कभी भविष्यकी चिन्तामें डूब जाता है; अनेक रूपोंवाला यह रोग वार-वार उसकी आशा-लता पर तुषारपात करता नजर आता है, आशारूपी वौरको दुष्ट आँधीकी तरह नष्ट करता पाया जाता है; हाथमे आई हुई सफलताको विफल बनाता प्रतीत होता है और चित्तको चिन्तारूढ़ बना देता है। लेकिन याद रहे कि मनकी यह निंतित अवस्था क्षयकी समर्थ साथिन है। चिन्ता क्षयकी उत्पत्तिका एक खास निमित्त होती है, क्षयकी स्थिति, वृद्धि और पुनर्जाग्रतिमें उसका अपना महत्त्वपूर्ण अंग रहता है। अतएव चित्तमें चिन्ता तो उत्पन्न ही न होने देनी चाहिये; उसे तो तुरन्त ही नष्ट कर डालना चाहिये।

"हँसनेवालेके साथ दुनिया हँसती है, लेकिन रोनेवालेको तो अकेले ही रोना पडता है। जो स्वभावसे आनदी है, उसे लोग ढूँढते आते हैं, और उदास रहनेवालेसे दूर भागते हैं। हर्ष-मित्रोंको जुटाता है, शोक उन्हें दूर भगाता है।" विलकॉक्सके इस कथनका अनुभव किसे न होगा? दुःखमें आदमी जितना स्वय अपना साथी वन सकता है, उतना और कोई नहीं वन सकता, दूसरे उसके दुःखकी जैसी-तैसी कल्पना कर सकते हैं, पर उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। ससारकी आनन्द-सरिता दुखियोंके दुःखसे सूखती नहीं, वीमारकी वीमारीसे उसके सगे-सवधियों और इष्ट-मित्रोंके जीवनका अनेकविध रस नष्ट नहीं होता—उस रसकी परितृप्तिको कोई रोक नहीं पाता। और, क्या वजह है कि उसे रोकनेकी इच्छा भी की जाय? यदि हम संसारके प्रवाहके साथ वह नहीं सकते, तो क्यों न उसके किनारे खडे रहकर अपने नेत्रोंको तृप्त करें और उस स्थितिमें अपने सगे-सम्बन्धियोंकी जितनी सहायता मिल जाय उतनी पाकर संतुष्ट रहें? यदि क्षयका बीमार

अपने हृदयको सन्तोषसे परिपूर्ण रक्खे और दूसरो पर विशेष आशा न बांधे, तो वह अपने मनकी समताको सुरक्षित रख सकता है और सान्त्वना पा सकता है। अगर वह स्वस्थ होनेका दृढ़ निश्चय कर ले और चिकित्साके रूपमें दिनचर्याका यथार्थ पालन करनेमें अपने मनको लगा दे, तो बहुत संभव है कि अन्तमें लाखों निराशाके बीच छिपी किसी अमर आशाका उसे दर्शन हो जाय।

२५

हितैषी

यद्यपि इलाजकी सफलताका मुख्य आधार रोगी पर है, तथापि उसके मार्गको सरल या विकट बनाना दूसरोंके हाथमें है। यह स्वाभाविक है कि क्षय-जैसी बीमारीके होते ही सगे-सम्बन्धियोंकी भावनाको आघात पहुँचे और वह उत्तेजित होकर रोगीकी सेवामें लगना चाहे – उसके काम आना चाहे। लेकिन अकेली भावनासे संसारका कोई ठोस और हितकारी काम क्वचित् ही हो पाता है। भावना सफल तभी होती है, जब उसके साथ विवेकका पुट हो। इसमें शक नहीं कि दुखीको अपने दुःखमें मित्रोंके आश्वासनकी ज़रूरत रहती है, लेकिन जिस तरह दवा देनेमें कुशलताकी आवश्यकता है, उसी तरह दिलसे दिलको आश्वस्त करनेकी भी अपनी एक कला होती है, और यह कला सबके पास पर्याप्त मात्रामें नहीं रहती। रोगीके मित्र उसकी सेवा-सहायताके लिये तत्पर रहें, और रोगीको या उसकी चिकित्सा करनेवालोंको, जब वे चाहें, उनसे सहायता मिला करे, तो रोगी और उसके हितैषियोंके बीच एक सामंजस्य स्थापित हो जाय, और उसका परिणाम भी मीठा हो। इलाजके दरमियान रोगीका अपना मुख्य स्थान होना चाहिये और आसपासका वातावरण उसके अनुकूल रहना चाहिये। इलाजकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि रोगीको दूसरोंका अनुसरण न करना पड़े, बल्कि उसके साथी उसके अनुकूल रहा करें।

अगर रोगीके मित्र उसे रात-दिन घेरे रहें, उसके सामने उसके दुःखकी सन्तापभरी चर्चा किया करें, उस पर तरस खायें, उसे अपने भले-बुरे अनुभव सुनावें, उसकी मौजूदगीमें उसके रोगके लक्षणोंकी चर्चा करें, उसे भाँति-भाँतिकी सलाहें दें, और रोज़-रोज़ उनका यही व्यवहार बना रहे, तो बताइये कि बीमार अपना दुःख कैसे भूले, कैसे वह चित्तको भ्रान्त होनेसे रोके, और किस प्रकार निश्चिन्त रहकर शान्ति प्राप्त करे? ऐसी अवस्थामें वह ज़रूर उकता उठेगा, मन ही मन जलेगा, कुढ़ेगा, चिढ़ेगा और हैरान हो रहेगा। क्या ही अच्छा हो यदि मिलने-जुलनेवाले, रोगीको उसके संबंधका अपना दुःख न सुनायें, बल्कि दो मीठी बातों द्वारा उसका मनोरंजन करके उसकी उत्तम सेवा करें। उनकी उपस्थिति ही उनके हृदयके भावोंको व्यक्त करनेके लिये पर्याप्त है। उसके लिये शब्दोंका उपयोग करनेकी आवश्यकता क्या?

यह तो स्पष्ट ही है कि बीमारको भीड़-भड़क्केसे तकलीफ़ होती है — बहुतोंके बीचमें वह आरामसे रह नहीं सकता। जब घर छोड़कर दूसरी जगह जानेका निश्चय हो, तो इष्ट यही है कि रोगीके साथ कम-से-कम लोग जायँ। इस रीतिसे उसमें और उसके साथियोंमें समरसता शीघ्र ही स्थापित हो जाती है और वह क़ायम रहती है।

रोगीके कुछ हितैषी अन्धप्रेमी होते हैं, वे अपने प्रेमका दुरुपयोग-सा करते हैं। कुछ क्षयका नाम सुनते ही अपने प्रियजनसे भागे-भागे फिरते हैं। वे डरते हैं कि कहीं नज़दीक जानेसे वे ख़ुद क्षयकी चपेटमें न आ जायँ। ऐसे डरपोक हितैषी रोगीको उतनी हानि नहीं पहुँचाते, जितनी अपने आपको पहुँचा लेते हैं। उन्हें यह जान लेना चाहिये कि क्षयका बीमार न तो साँपकी

तरह किसीको डँसता फिरता है और न पागल कुत्तेकी तरह काटने दौडता है। उसका तिरस्कार करने और उससे दूर रहनेवाले स्पष्ट ही अपने अज्ञान और झूठे अभिमानका परिचय देते हैं।

क्षयके रोगीके लिये संसार जीवन-क्षेत्र नहीं रह जाता। वह तो अपने उपचारके लिये ससारसे दूर चला जाता है, उसे स्वस्थ संसारसे टक्कर लेने या उसके सघर्षमें आनेकी कोई ज़रूरत नहीं रहती। यदि वह अपनी ओछी बुद्धिके कारण स्वस्थ संसारके पचरंगी जीवनमें विक्षेप डालना चाहे, तो संसारियोंके प्रेमसे हाथ धो बैठे, तिरस्कृत व परित्यक्तकी तरह उसे एकाकी जीवन बिताना पडे, वह जीवनमे दु खी हो उठे। इसी तरह ससारका कर्त्तव्य है कि वह राजरोगीको बालककी भाँति सुरक्षित रक्खे। अगर दुनिया उसके काम, उसकी चर्या और उसकी चिकित्साको न समझ सके, या ये सब उसे अच्छे न लगें, तो उसे चाहिये कि वह इस सबधमें तटस्थ रहे, मगर किसी भी हालतमें रोगीका मज़ाक न उडाये, उसका तिरस्कार न करे। यह तो स्पष्ट है कि अगर राजरोगी और सब बातोंको छोड़ संसारसे केवल सहिष्णुता और उदारताकी आशा रक्खे, तो इसमें अनुचित कुछ नहीं है।

जिस तरह विद्याध्ययनके लिये हम अपने सुकुमार बालकको किसी अच्छे शिक्षकके सिपुर्द करते हैं, उसी तरह क्षयके बीमारको भी किसी विश्वासपात्र, अनुभवी, समझदार और खासकर रोगीके हितकी सदा चिन्ता रखनेवाले डॉक्टरके सिपुर्द करना चाहिये। इष्ट-मित्रों और रिश्तेदारोंकी 'हूँफ'—हिम्मत—रोगीको आशावान बनाये रखती है, और अनुभवी मार्गदर्शककी 'हूँफ' उसे संकटसे पार उतारती है। उसका एक वाक्य, एक वचन, एक उद्गार रोगीके दिनभरके दुःखको पलमें नष्ट कर देता है, उसे आश्वस्त करता है

और उसके मनको हलका बना देता है। उसकी वाणीमें आश्वासनके साथ अनुभव भी होता है। अगर रोगी अपने मार्गदर्शक या सलाहकारके साथ समरस हो जाय, तो उसका बहुत कुछ भार हलका हो जाता है। जिस पर रोगीको विश्वास न रहे, जिससे उसे हिम्मत न मिले, वह मार्गदर्शक क्षय-जैसी बीमारीमें विशेष उपयोगी नहीं होता। जिसकी आँखोंसे अमृतके बदले रोष झड़ता हो, जिसकी वाणीमें मिठासके बदले कटुता हो, कठोरता हो, जिसके दिलमें रोगीके लिये सहानुभूतिके बदले सख्ती हो, उसको आते देख रोगीका दिल हर्षसे उछलता नहीं, बल्कि उसे एक धक्का-सा लगता है, जो उसके लिये हितकारक नहीं होता। चिकित्सक रोगीके लिये तभी सच्चा और पूरा उपयोगी सिद्ध होता है, जब वह उसकी मित्रता प्राप्त कर लेता है, उसे सलाह देते समय मुख्यतः उसके हितका ही विचार करता है, आवश्यक और अनिवार्य खर्चकी ही सलाह देता है, और जो बात रोगीके लिये संभव नहीं है, उसका ज़िक्र तक नहीं करता। अधिकतर रोगियोंके साधन मर्यादित रहते हैं। वे तभी लम्बे समय तक टिक सकते और अन्ततक चिकित्सामें काम आ सकते हैं, जब कि उनका व्यर्थ व्यय न कराया जाय। जो चिकित्सक या मार्गदर्शक 'धन हरे, धोखा न हरे' की कोटिका होता है, वह रोगीको ले बैठता है।

योजयते हिताय — सन्मित्रका यह लक्षण जिस मार्गदर्शकमें होता है, वही रोगीके दुःखको मिटाकर उसे उबार सकता है।

२६

उपचारमें समयका स्थान

क्षयके इलाजमें कितना समय लग जायगा, इस सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ धूमकेतु ऐसे होते हैं, जिनके पथका पता नहीं चलता, यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी एक-एक परिक्रमाको कितना समय लगता है और वे फिर कब दिखाई पड़ते हैं। यही हाल क्षयका है। निमोनिया और टायफॉइडकी तरह क्षयकी कोई मुद्दत नहीं रहती। यह तो निश्चित है कि उसके इलाजमें हफ्तो और पखवाड़ोंसे काम नहीं चलता। यह भी तय-सा है कि चार-छः महीनोंके अंदर आदमी खड़ा नहीं हो सकता। रोगके बलाबल पर से भी उसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यहाँ किसी तरहकी कल्पना या धारणा काम नहीं देती, इसलिये उसमें उलझना व्यर्थ है। जैसे-जैसे फेफड़ों पर रोगका असर होता जाता है, वैसे-वैसे बाहर बुखार वगैरा लक्षण प्रकट होने लगते हैं। फेफड़ोंकी खराबीको दूर होनेमें बरसों बीत जाते हैं, और कभी-कभी तो वह पूरी तरह नाबूद होती ही नहीं। इसलिये उसके आधार पर इलाज बन्द करनेका निर्णय नहीं किया जा सकता। यह भी इष्ट नहीं कि कोई वर्षों तक इलाज करानेको तैयार हो जाय, क्योंकि उसके बाद भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भीतरी लक्षण सब मिट ही जायेंगे; उलटे, इस तरहका निर्णय करनेसे रोगीको बेहद आर्थिक हानि सहनी पड़

सकती है, और नैतिक दृष्टिसे कल्पनातीत नुकसान उठाना पड़ सकता है।

जबतक बुखार, तेज़ नाडी और दुर्बलता-जैसे लक्षण मौजूद रहते हैं, इलाज छोड़ा नही जा सकता; यही क्यों, तबतक आराम छोड़ और कुछ किया भी नहीं जा सकता। इन बाहरी लक्षणो पर विजय पानेके लिये जितना जरूरी हो, उतना समय देना चाहिये। आरामके सिलसिलेमें समय पाकर कसरत शुरू करना और क्रम-क्रमसे उसे बढ़ाते जाना भी इलाजका ही एक अंग है। यह कहना भी कठिन है कि कौन कितने समयमें किस हद तक कसरत कर सकता है। लेकिन जितनी कसरत की जाती है, उतनी करनेसे शरीरकी गर्मीमें, और नाड़ी तथा श्वासोच्छ्वासकी गतिमें कितनी वृद्धि होती है, यह वृद्धि कितने समयके अंदर दूर हो जाती है, और कितनी देरमें गर्मी वग़ैरा अपनी मर्यादामें आ जाते हैं, इस पर से शरीरकी शक्तिका कुछ अन्दाज़ किया जा सकता है। मानसिक और शारीरिक परिश्रमके कारण शुरूमें शरीरकी गर्मी और नाडी तथा साँसकी गतिमें जो वृद्धि होगी, वह धीरे-धीरे कम होती जायगी और जल्दी खतम हो जायगी। आगे चलकर अगर यह वृद्धि नाम-मात्रकी ही हो, अथवा आमतौर पर जितनी होनी चाहिये, उतनी ही हो, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि सुधार अधिक-से-अधिक हो चुका है। जबतक रोगीके शरीरतंत्रमें भिन्न-भिन्न प्रकारका — ज्वर, नाडी, मन आदिका — आवश्यक सन्तुलन अधिक-से-अधिक उत्पन्न न हो जाय, तबतक इलाज ज़ारी रखना चाहिये।

इलाजमें कितना समय लग जायगा, इसका आधार कुछ इस बात पर भी है कि रोग किस अवस्थामें पहचाना जाता है और

इलाज कब शुरू होता है। यदि शुरूमें अकारण देर न की जाय, या कम-से-कम देर की जाय, तो उसी हिसाबसे अन्तमें समयकी अधिक बचत होती है। और स्पष्ट ही अधिक वाच्छनीय भी यही है कि शुरूकी अपेक्षा अन्तका समय बचे। बादका समय बचानेका मौका मिल भी सकता है, शायद न भी मिले, और मिले भी तो शायद वह संतोषजनक न हो।

इस बीमारीमें समयका अनादर करना हितकारी नही होता। एक फ्रासीसी कहावत है कि 'जो कुछ समयके विरुद्ध — उसकी परवाह किये बिना — किया जाता है, समय भी उसकी परवाह नहीं करता।' क्षयके बारेमें यह कहावत भलीभाँति चरितार्थ होती है।

२७

उत्तरजीवन

क्षयका अन्त उसके जन्मकी तरह विलक्षण और अद्भुत है। रोगके लक्षण दब जाते हैं, शक्ति आ जाती है, काम-काज होने लगता है, फिर भी शरीर रोगांकित तो रहता ही है। शरीरके साथ क्षयका कुछ वैसा ही सम्बन्ध हो जाता है, जैसा दो लड़नेवाले पड़ोसी राज्योंके बीच युद्ध समाप्त होने पर रहता है — लड़ाई तो खतम हो जाती है, लेकिन शंका दोनोंके दिलमें बनी रहती है : पता नहीं, कौन कब अचानक हमला कर दे, इसलिये दोनो होशियार रहते हैं, शस्त्रास्त्रसे सज्ज रहते हैं और शस्त्र-बद्ध हो कर सन्धिकी रक्षा करते हैं। यदि इलाज सफल रहा, तो क्षयका हमला व्यापक नही हो पाता, उससे जो खराबी पैदा हुई थी वह मन्द और बन्द हो जाती है, और फेफड़ोका जितना भाग क्षयसे अलिप्त रहा था, उतना नष्ट होनेसे बच जाता है। इलाजकी सफलताका अर्थ है, देह और क्षयके बीच शस्त्रबद्ध सन्धि। कभी-कभी यह सन्धि जीवनभर क़ायम रहती है, कभी देरमे या जल्दी टूट जाती है और तब क्षयके हमले पर हमले होने लगते हैं। यदि इलाजके फलस्वरूप ज्वर, शोष, थकान, आदि क्षयके महत्त्वपूर्ण लक्षण लुप्त हो जाते हैं, और लगातार पूरे दो साल तक फिर प्रकट नहीं होते, तो अकसर समझौता स्थायी हो जाता है, रोगका त्रास मिट जाता है और यह मान लिया जाता है कि रोग पूरी तरह वशमें आ गया; इसके बाद यदि जीवन मर्यादापूर्वक व्यतीत किया

जाय तो क्षयसे परेशान होने और फिरसे पटकनी खानेकी सम्भावना कम ही रह जाती है। क्षयरोगीको अपना उत्तर जीवन — चिकित्साके बादका जीवन — सरल और सफल बनानेके लिये अपना समूचा व्यवहार इस तरहका बना लेना चाहिये कि क्षयको पुनः भड़कनेका मौका ही न मिले। क्षयके बीमारमें ताकत आती तो है, लेकिन वह असल ताकत-जैसी नहीं होती, क्षयके संचारसे फेफड़ोंका कितना भाग नष्ट हुआ है, कितना निरुपयोगी बना है और कितना नीरोग व कार्यक्षम रहा है, यह जानना जरूरी है, क्योंकि ताकत उसी हिसाबसे आती है। यह तो निश्चित ही है कि क्षयके बीमारकी सहन-शक्ति स्वस्थ दशामें जितनी और जैसी रहा करती थी, बीमारीके बाद उतनी और वैसी नहीं रहती। इलाजके दरमियान रोगीको अपने लिये जो नई दिनचर्या बनानी पड़ती है, आवश्यक हेर-फेरके साथ उसका बहुत-कुछ अंश उसे 'स्वस्थ' होने पर भी जीवनभर कायम रखना चाहिये। उसे मर्यादा और श्रम-सीमाका उल्लंघन न करना चाहिये, हर तरहकी अतिसे बचना चाहिये, जागरण न करना चाहिये; युक्ताहारी रहना चाहिये, आवश्यक और उचित मात्रामें पुष्टिकारक ख़ुराक लेनी चाहिये, भीड़-भड़क्केसे बचना चाहिये; खुली और ताज़ी हवाका त्याग न करना चाहिये, हदसे ज्यादा शारीरिक और मानसिक श्रम न करना चाहिये; जिन कामोंको बहुत ही एकाग्रताके साथ, बड़े वेगसे, देरतक करना पड़ता हो, उनसे बचना चाहिये; अपने आस-पास जरूरतसे ज्यादा उपाधि न बढ़ानी चाहिये, सम्भोग क्वचित् ही करना चाहिये और सबसे बड़ी बात जो आरामकी है, उसे कभी भूलना न चाहिये। छुट्टीके दिनोंमें इधर-उधर भटकनेके बजाय आराम करना चाहिये और कई दिनोंकी चढ़ी हुई थकावटको उतारनेका पूरा खयाल

रखना चाहिये। जिस तरह उपवास और रेचनसे पेटका मल दूर होता है, उसी तरह समय पाकर भरपूर आराम करनेसे शरीर और मनकी थकान मिटती है। सालमें एकाध महीना कामधन्धेसे छुट्टी लेकर पूरी तरह आराम किया जाय तो रोगको वशमें रखना आसान हो जाता है।

क्षयके प्रकट होनेपर और उसके वशमें आ-जानेके बाद भी औरोंकी तरह क्षयके बीमारको दूसरी तरहकी बीमारियाँ होती हैं, और मिटती हैं; लेकिन इन बीमारियोंमें उसे औरोंकी अपेक्षा ज्यादा सावधान रहना चाहिये। खासकर सर्दीका और सर्दीकी बीमारीका पूरा ख़याल रखना चाहिये। किसी भी दशामें उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। जबतक नये पैदा हुए रोगका असर पूरी तरह मिट न जाय, तबतक होशियारीसे काम लेना चाहिये और दूसरे रोगके कारण उत्पन्न कमज़ोरीके दिनोंमें क्षयको सिर उठानेका मौका न मिल जाय, इसका ध्यान रखना चाहिये।

अपने उत्तर जीवनमें क्षयके बीमारको स्थान-परिवर्तनकी कोई खास ज़रूरत नहीं रहती, न सबके लिये वह सहज ही होता है। वह जहाँ-कहीं भी रहे, उसके रहनेका मकान हवादार, उजेलेवाला और साफ होना चाहिये; घरमें ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि रोगी जब चाहे, आराम कर सके। आदर्श वातावरण और आदर्श कार्य प्राप्त करना तो उसके लिये आसान नहीं होता। कई अपने व्यवसायको बदल नहीं सकते। बदलनेसे उन्हें कोई निश्चित लाभ नहीं हो पाता। नये व्यवसायमें निपुण होने और उससे पर्याप्त आमदनी कर लेनेकी चिन्ता बनी रहती है। अगर पेशेमें या काममें बिना सोचे-विचारे परिवर्तन किया जाता है, तो अन्तमें पछताना पड सकता है। यदि रोगीके असल व्यवसायमें स्वास्थ्यके लिये घातक

अश हदसे ज्यादा और गभीर प्रकारके न हों, तो उसी व्यवसायमें लगे रहना अच्छा है। आजीविकाके या दूसरी जिम्मेदारीवाले कामोंमें आदमीका जितना समय खर्च होता है, उससे दुगना समय उसके अपने पास रहता है। क्षयरोगी अपने उत्तर जीवनमें किस तरहका काम कैसे वातावरणमें करता है, रोगके साथ उसकी सन्धिके कायम रहने-न रहनेका आधार इस पर उतना नहीं होता, जितना इस बात पर होता है कि वह अपने पासके शेष दुगने समयका उपयोग किस प्रकार करता है। इस शेष समय पर उसका सम्पूर्ण अधिकार रहना चाहिये। यदि वह अपने शेष समयके १४ से १६ घण्टोंमें रोज़ उचित आराम करे, व्यर्थकी झझंट मोल न ले, क्रिकेट, टेनिस, फुटबॉल, हॉकी, खो-खो वगैरा श्रम पहुँचानेवाले खेलोंमें दिलचस्पी न रक्खे, नाटकघरोंमें और बडे-बडे सभाभवनोंमें होनेवाली विराट सभाओंमें क्वचित् ही जाय, मन और शरीरको विश्राम व शान्ति दे, और शक्तिका उपयोग किफायतके साथ करे, तो क्षयपर उसका प्रभुत्व दिन-बदिन दृढ़ होता चलेगा और अन्तमें स्थायी बन जायगा। लम्बी उमर तक जीनेके लिये उसे अपनी तृष्णाओं और अभिलाषाओंको कम कर लेना चाहिये और सन्तुष्ट तथा एकमार्गी जीवन बिताना चाहिये। काम उतना ही करना चाहिये, जितना बिलकुल आवश्यक और अनिवार्य हो। आलस्य और प्रमादके समान नीतिका नाश करनेवाले दोषोंसे मुक्त रहने और दुनियाके लिये बोझरूप न बननेके लिये जितना ज़रूरी हो, उतना ही काम करके सन्तुष्ट रहना चाहिये।

वैसे, इस रोगका स्वभाव फिर-फिर जागनेका है, लेकिन इससे डरते रहनेकी कोई ज़रूरत नहीं। जब इलाज समय पर, योजना-पूर्वक और पूरा-पूरा किया जाता है, और रोगी श्रमकी सीमाका उल्लंघन नहीं करता, तो खतरा बहुत कम हो जाता है। रोग फिरसे

आँधी या बवण्डरकी तरह क्वचित् ही जागता है। जागनेसे पहले उसकी टंकार सुनाई पड़ती है। अगर यह टंकार सुनते ही रोगी चेत जाय, और श्रमको यथासंभव कम करके आरामकी मात्रा बढ़ा दे, तो रोगका जागना और प्रकट होना रुक जाय।

यह टंकार अनेक रूपोंमें सुनाई पडती है। यदि इसकी अवगणना की जाय और यह सोचकर मन मना लिया जाय कि सब कुछ अच्छा है, तो फिरसे पछाड खानेकी नौबत आ सकती है, और फिर वही इलाज अथसे इति तक करना पड़ सकता है; और यह तो स्पष्ट है कि दूसरी बार उसका परिणाम उतना अच्छा नहीं होता। विषम परिस्थितियोंका सामना करनेकी हमारी शक्ति सीमित ही होती है — अनन्त नहीं होती — खासकर क्षयसे बचनेके बाद तो वह किसी भी दशामें अखूट नहीं रहती। इस शक्तिको बार-बार चुनौती देना मौतको न्यौता देना है। रोगकी पुनर्जाग्रतिकी टंकार प्रथम जाग्रति-जैसी ही होती है — चित्त अशान्त और चिढ़चिढ़ा बन जाता है, होशियारी ग़ायब हो जाती है, थकावट मालूम होने लगती है, वज़न क्रम-क्रमसे लगातार घटने लगता है, शरीरकी गर्मीमें विशेष परिवर्तन होता रहता है, खाँसी और कफकी शिकायत फिर पैदा हो जाती है या बढ़ जाती है और बराबर बढ़ती रहती है, पाचनशक्ति मन्द हो जाती है, और बदहज़मी व कब्ज़ वग़ैराकी शिकायत बार-बार रहने लगती है। रोगीको चाहिये कि ऐसे समय वह तुरन्त चेत जाय, अनुभवी चिकित्सक की सलाह ले और जीवनमें आवश्यक परिवर्तन तुरन्त कर डाले। जब इन चेतावनियोंकी सुनवाई नहीं होती, तो ये सब क्षयके लक्षणके रूपमें स्थिर हो जाती हैं, और रोग पुनः भड़क उठता है।

जिस तरह पहली बार क्षयसे उबरनेका आधार रोगी पर है, उसी तरह पुनः क्षयसागरमें फिसलनेसे बचना भी बहुत-कुछ उसीके हाथ है। अगर पार उतरनेवाला 'मूर्ख, उद्धत, दुर्बल मनवाला अथवा स्वेच्छाचारी' नहीं बनता, तो वह पार हो लेता है, और जीवनमें कुछ हद तक कर्त्ता और विशेषकर द्रष्टा बनकर रसपान करता रह सकता है।

२८

रतिदान

क्षयका अर्थ है, शक्तिका ह्रास; क्षयसे उबरनेका मतलब है पुनः शक्ति प्राप्त करना। मनुष्य शक्ति-संचयके बल पर क्षयसे अलिप्त रहता है; संयोगवश क्षय कभी शरीरमें प्रकट हो जाता है, तो उसका मुकाबला करनेके लिये, उससे बचनेके लिये और दुबारा उसके फन्देसे मुक्त रहनेके लिये शक्ति-संचयसे अपूर्व सहायता मिलती है। एक बार शरीरमें क्षयका संचार होनेके बाद शक्ति पुनः प्राप्त होती है, लेकिन साथ ही उस शक्तिको पलमें नष्ट करने-वाले तत्त्व — क्षयबीज — भी शरीरमें वास करने लगते हैं, अत-एव जिस तरह एक बँधी हुई आमदनीवाला आदमी किफायतसे काम लेकर ही बेफ़िक्र रह सकता है, उसी तरह राजरोगीको भी अपनी शक्ति बड़ी किफ़ायतके साथ खर्च करनी पड़ती है — यही उसके लिये उचित भी है। जीवन-निर्वाहके लिये, आलस्य और प्रमादसे मुक्त रहनेके लिये, और अपने मनुष्यत्वको नष्ट होनेसे बचानेके लिये, शक्तिका व्यय आवश्यक और अनिवार्य होता है, बिना उसके जीवन मनुष्यजीवन नहीं रह पाता। लेकिन यह एक जानी हुई बात है कि इन कारणोंको लेकर जितनी शक्ति खर्च होती है, उससे कहीं ज्यादा और निरर्थक व्यय स्वेच्छाचारके कारण होता है। राजरोगीको भरसक इससे बचना चाहिये।

रतिदान या सम्भोगमें शक्ति और श्रम दोनोंका व्यय होता है। यदि इसमें अति की जाय, तो यह स्वस्थ मनुष्यको भी क्षीण

और निस्तेज बना देता है। राजरोगीके लिये तो यह खतरनाक ही साबित होता है। रोग जाग्रत हो या सुप्त, अति हरहालतमें त्याज्य है, जबतक रोगके लक्षण मौजूद हों, परिमित मात्रामें भी सम्भोगकी लालसाका पोषण या अमल करना उचित नहीं। स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये यह वचन समान रूपसे आवश्यक है।

रोगके लक्षणोंके दबते ही शरीर सुदृढ, सशक्त और रोगके भयसे एकदम मुक्त नहीं हो जाता। जब बुखार-जैसे महत्त्वके लक्षण लगातार दो वर्षों तक प्रकट नहीं होते, तभी यह माना जाता है कि राजरोगी प्रायः भयसे मुक्त हो चुका है और उसे नया जीवन मिला है। लक्षणोंके लुप्त होनेके बाद दो वर्ष तक और फिर आगेके एक-दो वर्षोंतक रोगीको नियमपूर्वक शक्तिका सचय और उसकी वृद्धि करनी चाहिये। जिस तरह जन्मके बाद २०-२५ वर्ष तक शरीर और मनके विकासयुगमें सम्भोगसे विमुख रहकर लाभ उठाया जाता है, उसी तरह रोगके लक्षणोंके अदृष्ट होनेके बाद — कोई तीन साल तक — रोगी रतिदानसे विमुख रहे, तो उसे विशेष लाभ होता है और शरीर पुनः ठीक-ठीक सुगठित बन जाता है।

जो कर्त्तव्यपरायण हैं, उन्हें अपनी शक्तिका विचार करके अपनी ज़िम्मेदारी बढ़ानी चाहिये। क्षयके बीमारको बीमारीके लक्षण दूर होनेके बाद भी कम-से-कम तीन साल तो अपने शरीरको सुगठित बनानेमें बिताने चाहियें, इस बीच रतिदान और प्रजोत्पादनमें लगनेसे स्वास्थ्यनिर्माणमें स्पष्ट ही बाधा पहुँचती है। संभोगके परिणाम-स्वरूप एक तो पुरुषको कमजोरीका सामना करना पड़ता है और दूसरे, सन्तान पैदा करके अपनी ज़िम्मेदारियोंको बढ़ा लेनेसे स्वास्थ्यका मार्ग सरल नहीं रह जाता — उसके विषम और विकट बन जानेका

डर रहता है। यदि स्त्रीको क्षयके बाद तुरन्त ही एकाध वर्षमें गर्भ रह जाता है, तो उससे क्षयका पोषण होता है और दबे हुए रोगके फिरसे भडक उठनेकी अप्रिय संभावना बढ़ जाती है।

चूँकि सम्भोग या मैथुनके कारण क्षयको पोषण मिलता है, इसलिये विवाहित स्त्री-पुरुषोंको पूर्ण स्वस्थ होने तक उससे दूर ही रहना चाहिये — इसीमें उनकी भलाई है। और, जो अविवाहित हैं, उन्हें रोगके ठीकसे वशमें आ जानेके बाद भी कम-से-कम तीन साल तक ब्याह न करना चाहिये, इन दिनों ब्याह करके अपनी ज़िम्मेदारियोंको बढ़ाने और कई तरहसे शक्तिका व्यय करनेवाले अवसरोंको न्यौता देने और शक्तिकी कमीका बोझ ढोनेमें कोई लाभ नहीं।

वैसे, इधर-इधर हमारे आचार-विचारमें काफ़ी परिवर्तन होने लगे हैं; मगर सगाई-शादी अब भी छोटी उम्रमें होती रहती है। इसलिये क्षयके शिकार बने हुए अनेक नौजवान अगर शादीशुदा नहीं, तो सगाईवाले ज़रूर होते हैं। एक बार प्रकट होनेके बाद क्षयकी मर्यादा या मुद्दत कोई बता नहीं सकता। अलग-अलग व्यक्तियोंमें उसका रूप और उसकी मुद्दत भी अलग-अलग होती है। दबनेके बाद भी दो-तीन साल तक वह बिलकुल दिखाई नहीं पड़ेगा, यह कहना कठिन है। ऐसी दशामें एक विकट प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सगाई क़ायम रक्खी जाय या तोड़ दी जाय। इसका सीधा और सच्चा उत्तर तो एक ही हो सकता है; लेकिन वह प्रचलित रूढ़िके विरुद्ध पड़ता है। फिर भी यदि हम सगाईसे सम्बद्ध वर-कन्या या युवक-युवतीके हितको प्रधानता दें, और लोकाचारको एक ओर रक्खें, तो राज़ीसे हो या नाराज़ीसे, श्रेय तो इसीमें है कि सम्बन्ध तोड़ दिया जाय। इसमें रोगीका भी हित है, और

दूसरे पक्षका भी हित है। जीवनमें कई ऐसे अवसर आते हैं, जब मनुष्यके मनोरथों पर वज्रपात-सा होता है। अकसर अपनी प्रिय अभिलाषाको नष्ट करनेवाले काम भी मनुष्यको कर्त्तव्यवश करने पड़ते हैं। व्याहका सम्बन्ध जीवनव्यापी सम्बन्ध है। जीवनके सुखी या दुखी रहनेका आधार बहुत कुछ विवाहित जीवन पर है। इसलिये जीवनके इस महान् और अपूर्व प्रश्नके सम्बन्धमें उदासीनता या लापरवाहीसे काम लेना अच्छा नहीं। जो आवश्यक है, उसे तो अरुचिकर होने पर भी कर्त्तव्य-बुद्धिसे, दृढ़तापूर्वक कर ही लेना चाहिये — दूसरा कोई उपाय नहीं।

यदि कोई इसका यह अर्थ लगाये कि क्षयग्रस्त स्त्री-पुरुष सदाके लिये विवाहित जीवनके अयोग्य बन जाते हैं, तो वह ठीक नहीं। जब इलाज सफल हो जाता है, रोग पूरी तरह परास्त हो चुकता है, और निर्भयताकी दृष्टिसे ऊपर जितना समय सूचित किया है, उतना सकुशल बीत जाता है, तो रोगीको विवाहित जीवनकी पात्रता और वैसा जीवन बितानेकी सन्धि अवश्य प्राप्त होती है। वह अपनी सन्तानेच्छाको तृप्त कर सकता है। उसकी सन्तान भी औरोंकी तरह स्वस्थ उत्पन्न होती है और यदि उसका उचित रीतिसे पालन-पोषण किया जाय, तो नीरोग भी रहती है। वह मनोनुकूल अपना विकास भी कर लेती है और दूसरोंकी तरह वह भी जीवनमें अपना एक स्थान बना लेती है।

२९

रोकथाम

इसमें तो कोई शक नहीं कि शरीरमें रोगके पैदा होनेके बाद उसे निर्मूल करने या उस पर विजय पानेके लिये यत्न करनेसे अच्छा तो यह है कि रोगको पैदा ही न होने दिया जाय। यह दूसरा तरीक़ा पहलेसे कहीं अधिक सौम्य व हितकारक है और इसमें शक्ति व सम्पत्तिका व्यय भी कम होता है। लेकिन शरीरका नीरोग रहना ही बस नहीं है। सैकड़ो मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बीमार तो नहीं कहे जाते, फिर भी उनमें तन्दुरुस्तीकी चमक नहीं पाई जाती। शरीरका नीरोग रहना और स्वस्थ होना, दो अलग चीज़ें हैं। नीरोग अवस्थामें रोगका अभाव होता है, लेकिन जीवनी-शक्ति आदिकी मात्रा कम और हलके दर्जेकी होती है। स्वस्थ अवस्थामें न सिर्फ रोग ही नहीं होता, बल्कि जीवनीशक्ति उत्तम कोटिकी रहती है और शरीर और मन सदा विकासशील रहते हैं। स्वास्थ्य उतना सुलभ और सामान्य नहीं होता, जितना कि माना जाता है। स्वास्थ्यका तेज व्यक्तिके चहेरे पर सहज ही झलकता है। बहुतेरे लोग नीरोग रहनेमें सन्तोष मान लेते हैं, लेकिन याद रहे कि क्षय-जैसे रोगके अधिकतर शिकार भी इसी श्रेणीके लोगोंमें होते हैं। लोग स्वास्थ्यके महत्त्व और मूल्यको भूल गये हैं।

लोक-जीवन से क्षयका सम्पूर्ण नाश करनेके लिये या उसे इतना निबल बना देनेके लिये कि वह कभी सिर ही न उठा सके, लोक-जीवन और लोक-संगठनमें सांगोपांग परिवर्तनकी आवश्यकता है। क्षय केवल वैद्यकका विषय नहीं; जनताके राजनैतिक, सामाजिक,

कौटुम्बिक और आर्थिक जीवनका क्षयकी व्यापकताके साथ बहुत घना सम्बन्ध है। क्षयकी रोकका विषय विशाल और विषम है। यदि सरकार चाहे और तत्परता दिखाये तो क्षयकी वर्त्तमान व्यापकता बहुत कम की जा सकती है।

क्षयकी रोकके लिये जिन सार्वजनिक उपायोंका प्रयोग आवश्यक है, उनकी विस्तृत चर्चा करनेका यह स्थान नहीं। हमारे ज्यादातर शहरोंकी रचना, रहने और कामकाज करनेके लिये बने हुए मकानों और कारखानोंकी बनावट, शहरोंकी बेहद भीड और तन्दुरुस्तीको हानि पहुँचानेवाली ख़ूराक, धनका अभाव, शराबकी लत और उपद्रवी वातावरण, वगैरा सभी क्षयके अच्छे मददगार हैं। सरकारें चाहें, तो इन सबका प्रतिकार कर सकती हैं।

लेकिन आज तो न सरकारोंको इसमें कोई दिलचस्पी है, न परिवर्तनके कोई लक्षण नज़र आते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि आजकी परिस्थितिमें क्षयकी रोकथामके लिये कुछ किया ही नहीं जा सकता। यदि हमारे परिवार और उन परिवारोंके व्यक्ति चाहें, तो अपने आस-पास क्षयको फैलनेसे रोक सकते हैं। शुरूके एक अध्यायमें हम यह देख चुके हैं कि क्षयकी उत्पत्तिमें चेतन-रजका हाथ कितना नगण्य है। इस रजके विरुद्ध युद्ध छेड़नेमें कोई सार नहीं — इस तरहका युद्ध न केवल निरर्थक, निरुपयोगी, निष्फल और अशक्य है, बल्कि वह क्षयका सफल विरोध करनेके मार्गमें रुकावट पैदा करता है, विरोधियोंको पथभ्रष्ट बनाता है। हाँ, यदि क्षयको जगानेवाली परिस्थितिके खिलाफ युद्ध छेडा जाय, तो अवश्य ही क्षयके पख काटे जा सकते हैं। जिस तरीकेसे क्षयके बीमारकी दिनचर्याकी रचना करके रोगको वशमें किया जाता है, और चिकित्साके अन्तमें जिस दिनचर्याको उत्तर जीवनका अंग

बनानेसे क्षयके फिर उभड़नेकी सम्भावना एकदम कम की जा सकती है, यदि आमतौर पर सभी कुटुम्ब उसी तरहकी दिनचर्याको अपना लें, तो क्षयका प्रसार बहुत-कुछ रुक जाय।

सामान्य नियम तो यह है कि जो बाधायें शारीरिक स्वास्थ्यको हानि पहुँचाती हैं, वे क्षयकी पोषक होती हैं। जहाँ विकासका अवरोध होता है, वहाँ निश्चय ही विनाशके प्रादुर्भावको अवकाश मिलता है। हमारी घर-गृहस्थीमें ऐसे अनेक आरोग्यघातक विघ्न उपस्थित होते रहते हैं, जो या तो परम्परागत होते हैं या आकस्मिक। ये विघ्न जितने दूर किये जाते हैं, क्षय भी उतना ही क्षीण होता है। '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्,**' जैसे अनेक प्राचीन वचनोंके रहते हुए भी हमारे यहाँ शरीरकी ही अधिक उपेक्षा की जाती है। बालकको नीरोग देखकर हम सन्तुष्ट हो रहते हैं। उसके स्वास्थ्यको और उसकी जीवनी-शक्तिको बढ़ानेका और रातदिन होने वाले उसके विकासको विघ्न-बाधाओंसे दूर रखकर उसे स्वास्थ्यवर्धक आदतें सिखानेका कोई यत्न हमारी ओरसे नहीं होता — इस विषयमें प्रायः हम उपेक्षासे ही काम लेते हैं। लड़कों और लड़कियोंके शरीरको सुदृढ़, सुगठित और सुडौल बनानेकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। लड़कियोंमें पाई जानेवाली सहज स्फूर्ति, उमंग और उल्लास आदिको विषधर सर्पकी भाँति प्रकट होते ही दबा दिया जाता है। उन पर असमय ही गंभीरताका बोझ लादकर उनके विकासको कुण्ठित बना दिया जाता है। बचपन ही में ब्याह करके उन पर घर-गृहस्थी और मातृत्वका भार लाद दिया जाता है। इस तरह उनके साथ शुरूसे अक्षम्य अत्याचार किये जाते हैं। सारी हवा ही ऐसी बना दी जाती है कि जिसमें स्त्रियोंका जीवन कभी नवपल्लवित रह ही न सके। बालविवाह, बेजोड़ विवाह,

पर्दाप्रथा, छोटी-छोटी जातियोंके संकुचित दायरेमें विवाह करनेका आग्रह, आदि शरीर-शक्तिका ह्रास करनेवाले अनेक तत्त्व आज भी समाजमें प्रतिष्ठित हैं। ये और ऐसी दूसरी प्रथायें स्वास्थ्यके लिये घातक हैं; जीवनके सौन्दर्यको नष्ट करनेवाली हैं और क्षय-जैसी बीमारियोंको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे आक्रमणकी अनुकूलता कर देनेवाली हैं। यदि व्यक्ति और परिवार चाहें तो वे इनमें से कई अनिष्ट तत्त्वोंको सहज ही नष्ट कर सकते हैं।

राजरोगीकी दिनचर्यामें नीचे लिखी बातोंका प्राधान्य होना चाहिये: यथासम्भव हवा और प्रकाशके बीच रहना, घरमें हवा और उजेलेका पूरा-पूरा प्रबंध होना, घरकी बस्तीके हिसाबसे स्थानकी विपुलता रहना, शरीरके स्वास्थ्यको टिकाने और बढ़ानेवाला आहार करना, मनको शान्त और शरीरको अक्लान्त रखना, सब प्रकारकी अतिका त्याग करना, निश्चिन्त रहना, और निष्ठापूर्वक नियमोंका पालन करना। शरीरको क्षयसे अलिप्त रखनेमें इन सबकी सहायता बहुत उपयोगी होती है। अपनी मर्यादामें रहकर परिश्रम करनेका आग्रह भी क्षयको दूर रखनेमें सहायक होता है।

राजरोगीकी यह दिनचर्या किसी बीमार और दुर्बलकी दिनचर्या नहीं है। यह बल और उत्साहसे युक्त है, और यही वजह है कि इसकी सहायतासे क्षय जैसे घातक रोगसे बचने और टिकनेका अवसर प्राप्त होता है। जो क्षयकी चपेटमें नहीं आये हैं, उनके लिये तो यह अत्यन्त प्रभावशाली है। राजरोगीकी दिनचर्यामें प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल तत्त्वोंकी विपुलता रहती है। कुदरतके कानूनके मुताबिक चलकर जीवनमें जितनी ठोस और विशिष्ट सिद्धि प्राप्त की जाती है, उतनी उन कानूनोंको तोड़ने या उनकी उपेक्षा करनेसे नहीं मिलती।

३०

पूर्णाहुति

क्षयके सम्बन्धमें जितनी बातें अबतक निश्चित रूपसे जानी गई हैं, वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं :

संसारकी सुसंस्कृत प्रजायें प्राचीन कालसे क्षयके संसर्गका अनुभव करती आई हैं।

क्षय हर उम्रके मनुष्योंको होता है; जवानीमें वह ज्यादा पाया जाता है।

क्षयके दो प्रकार हैं: उग्र और मंद। उग्र क्षय असाध्य होता है; और मन्द क्षय साध्य।

क्षय जल्दीसे परख लिया जाय, तुरन्त उसका इलाज शुरू हो जाय, और वह पर्याप्त समय तक कराया जाय, तो रोग साध्य रहता है। विलम्ब, असावधानी और चिकित्साके आवश्यक साधनोंका अभाव साध्य क्षयको भी असाध्य बना देता है।

क्षयरज और क्षयग्रंथियां तो बेशुमार लोगोंकी देहमें पाई जाती हैं; लेकिन क्षयके शिकार कुछ थोड़े ही लोग होते हैं।

क्षयग्रंथियोंकी उपस्थितिका अर्थ हमेशा क्षयरोग नहीं होता।

'प्रतिकूल परिस्थिति' क्षयकी जननी है।

क्षयके उपचारमें दवा, पिचकारी या अन्य ऐसे उपाय विशेष उपयोगी नहीं होते। क्षयकी कोई अचूक दवा अभीतक जानी नहीं गई।

क्षयकी चिकित्साका अर्थ है, क्षयरोगीकी दिनचर्याका हितकारक निर्माण; आहार-विहार-योगका परिपूर्ण पालन।

जबतक बुखार वगैरा विषजन्य लक्षण मौजूद रहें तबतक रोगीके लिये चिकित्साके नीचे लिखे अंग प्रधान और अनिवार्य माने जाने चाहिये :

१. सम्पूर्ण आराम

२ हज़म होने लायक पुष्टिकारक ख़ुराक

३ ताज़ी हवा और प्रकाशमें निवास

४ नियमपालन

५ निश्चिन्त मनोदशा

और, बाहरी लक्षणोंके लुप्त होने पर

६ क्रमानुसार व्यायाम ।

क्षयका अर्थ है, शक्तिका दिवाला । योजनापूर्वक व्यायाम करते हुए जबतक उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त होती रहे, तबतक इलाज जारी रखना चाहिये ।

क्षयकी चिकित्सामें स्थान या प्रदेशका विशेष महत्त्व नहीं। क्षय सभी स्थानोंमें होता है, और सर्वत्र उसका उपचार भी किया जा सकता है ।

एक वार जागा हुआ क्षय फिर-फिर ज़ागता है ।

क्षयकी पुनर्जाग्रतिको रोकनेके लिये उत्तर जीवनमें, आवश्यक हेरफेरके साथ, क्षय पर विजय पानेवाली दिनचर्याको ही जारी रखना चाहिये। श्रममें मर्यादाका पालन करनेसे क्षयकी जाग्रति रुकती है।

चेतन रजके विरुद्ध युद्ध ठाननेसे क्षयकी रोक नहीं होती। उसके लिये तो व्यक्ति और समाजकी 'प्रतिकूल परिस्थिति' मे सुधार करना चाहिये । दिनचर्याका सारा क्रम फिरसे इस तरह बैठाना चाहिये कि वह अधिक-से-अधिक हितकर हो। मर्यादित श्रमकी महत्ताको स्वीकार करके तदनुकूल आचरण भी करना चाहिये ।

३१

नात्मानमवसादयेत्

क्षयके इस शब्द-चित्रको पढ़कर यदि राजरोगी निराशामें डूब जाय और अपने जीवनको तुच्छ व पामर समझकर उसे धिक्कारने लगे, तो यह उसके लिये उचित न होगा। कोई कारण नहीं कि वह ऐसा करे। जीवन सदा सबका सरल नहीं रहता. न किसी एक ही तरीक़ेसे वह सबके लिये अटपटा या उलझनवाला बनता है। क्षय तो जीवनको जटिल और विषम बनानेमें एक निमित्त-मात्र होता है। जीवनकी समता सदा कसौटी पर चढ़ी रहती है। उसे स्थिर बनाये रहना ही जीवन है। यह कसौटी कभी अपने अतिशय प्रिय स्वजनके अकाल वियोगके रूपमें सामने आती है, कभी राजासे रंक बनानेवाली आपत्तिके रूपमें, और कभी क्षय-जैसे रोगके आक्रमणके रूपमें। इन छोटे–मोटे, क्षणिक या दीर्घजीवी विघ्नोंका प्रतिकार करनेमें और मनके सन्तुलनको बनाये रहनेमें ही जीवनकी महत्ता है। बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित होकर मनुष्यकी जीवनदिशाको बदल देते हैं, उसकी आशाओं और अभिलाषाओंको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, लेकिन वे हमेशा टाले नहीं जा सकते। उनके मोड़ मुड़ जानेसे, झुकाये झुक जानेसे, उनका आघात सह्य बनता है और पुन: तनकर खड़े होनेका अवसर हाथ आता है।

चलता-फिरता राजरोगी कोई हाराथका मनुष्य नहीं होता। अनेक धैर्यशाली स्त्री–पुरुष क्षयग्रस्त हो कर भी संसारको अपना ऋणी बना गये हैं। इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि जीवनके विविध क्षेत्रोंमें अनेक क्षयरोगी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। उनमेंसे कइयोंका क्षय पूरी तरह जाग्रत हो चुका था, और कइयोंका डगमग अवस्थामें था। रस्किन और थॅरो, लैनाक, कॉक और टुडो,

इमरसन और स्टीवेन्सन, ब्राउनिंग और ब्रोंटे, गेटे और रूसो, शेली और कीट्स, टॉल्स्टॉय और गॉर्की आदि अनेक अमर विभूतियाँ क्षयके ससर्गमे आ चुकी थीं।

जिस तरह संसारके अनेक अल्पज्ञात और अज्ञात व्यक्ति अपने-अपने छोटे या बडे क्षेत्रमें अपनी खुशबू छोड जाते हैं, उसी तरह क्षयरोगी भी यदि चाहे तो अपने जीवनकी रचना ऐसी कर सकता है, जिससे वह दुनियाके लिये बोझ न बने, और अपने हिस्सेके कामको भलीभाँति करके अपनी महकसे सबको मुग्ध कर दे। मनुष्य जो कुछ करता है, उससे उसका बड्प्पन उतना नहीं आँका जाता, जितना इस बातसे आँका जाता है कि उसे जो कुछ करना पडता है, उसको वह किस तरह करता है। राजाके उद्यानमें खिलनेवाले गुलाबकी ख़ुशबूकी क़द्र होती है, जगलके गुलाबकी ख़ुशबू योही नष्ट हो जाती है; परिस्थितिके कारण एक प्रकाशित हो उठता है, दूसरा अप्रकट और अज्ञात रहता है, फिर भी खुशबू तो दोनोंमें एक ही होती है। सूर्य यदि प्रकाशपुंज है, तो चिनगारीमें भी प्रकाशका अभाव नहीं। राजरोगी चिनगारीसे गया-बीता तो नहीं होता। वह कोयलकी तरह चहुँ ओर कुहक चाहे न सके, फिर भी जहाँ कहीं रहे, वहाँ अपने संयत और मर्यादित आचरण द्वारा अपना प्रकाश अपने आस-पास फैला सकता है और नियमपालनकी महत्ता सिद्ध कर सकता है। मनुष्य एक भावुक प्राणी है, अपनी भावनाशीलताके कारण ही वह दूसरे प्राणियोंसे भिन्न पडता है। क्षय रोगी भी सदा भावुक बना रह सकता है। रोगके कारण उसकी मनुष्यता नष्ट नहीं हो जाती। उसका जीवन धिक्कारयोग्य नहीं बन जाता, बल्कि ससारके लिये वह सजगता और सहिष्णुताका एक जीता-जागता उदाहरण बन जाता है।

पूर्ति*

शस्त्रक्रिया

राजरोग यानी तपेदिक़ एक अटपटा रोग है। उसे पैदा करनेवाली चेतन-रज शरीरमें प्रवेश करती है और अड्डा जमाती है, लेकिन आदमीको उसका पता नहीं चलता। बहुतोंके लिये यह अज्ञात स्थिति जीवनभर बनी रहती है। जब चेतन-रज घर करती है, तो फेफड़ोंके दूसरे हिस्सोंमें बहुत बारीक तब्दीलियाँ होती हैं, और वैसा होने पर अगर वहाँ चेतन-रजका संचार हो जाता है, तो उसका कुछ दूसरा असर होता है, और रोगको प्रकट होनेकी अनुकूलता मिलती है। इतना होने पर भी रोग सबमें दिखाई नहीं देता। जब अतिशयता के फलस्वरूप शरीरकी जीवनी शक्ति क्षीण होती जाती है और यह हालत बनी रहती है, तो चेतन-रज ज़ोर लगाती है और रोग प्रकट होता है। तेज़ नाड़ी, सुस्ती, शोष, बुखार, खाँसी, कफ, खूनकी क़ै और शूल जैसे बाहरी लक्षणों और फेफड़ोंसे निकलनेवाली आवाज़का बदलना वग़ैरा अन्दरूनी लक्षणोंके प्रकट होनेसे पहले फेफड़ोंमें रोगकी सूचक खराबियाँ शुरू हो चुकती हैं, और इतनी धीमी चालसे बढ़ती रहती हैं कि पता नहीं चलता। इसकी वजहसे लक्षणोंके प्रकट होनेसे पहले कई महीने और कभी-कभी साल दो साल तक बीत जाते हैं, और यों उसके अस्तित्वके बारेमें मनमें शंका तक नहीं पैदा होती; लेकिन 'एक्स-रे'की मददसे इसे बहुत कुछ जान लिया जाता है। लक्षणोंके पैदा होनेसे

---

* यह पूर्ति १९४४ के दिसम्बर में लिखी गई है।

पहले जब 'एक्स-रे' के जरिये रोगका पता चल जाता है, तो थोड़े समयमें पुरअसर इलाजकी पूरी संभावना रहती है। लेकिन इस तरह 'एक्स-रे' क्वचित् ही लिया जाता है। ज्यादातर तो जब लक्षण प्रकट हो जाते हैं, तभी क्षयका और उसके इलाजका विचार किया जाता है। जहाँ रोगका संशय पैदा होते ही तुरत 'एक्स-रे' का उपयोग किया जाता है, वहाँ रोगका निदान जल्दी हो जाता है और इलाज शुरू करनेमें बेकारका समय नहीं जाता। राजरोगका निदान करनेमें 'एक्स-रे' उपयोगी साधन है। दूसरा महत्त्वका साधन रक्तकी परीक्षा है: इसे 'सेडीमेण्टेशन टेस्ट, (sedimentation test) कहते हैं। इससे शरीरके अन्दर रही हुई किसी भी तरहकी रोग पैदा करनेवाली सक्रिय चेतन-रजका पता चल जाता है। इससे रोगका पता नहीं चलता, लेकिन इसके साथ 'एक्स-रे' के नतीजे पर विचार करनेसे क्षय-सम्बन्धी निर्णय पक्का हो जाता है। एकबार रोगका निश्चय हो जाने पर इस कसौटीके ज़रिये रोगमें होनेवाली घट-बढ़का पता, दूसरा कोई सूचन मिलनेसे पहले, निश्चित रूपसे लग जाता है।

राजरोग कठिन रोग है। किसी-किसीमें वह शुरूसे ही चौंकानेवाली हालतमें पाया जाता है, लेकिन ज्यादातर ऊपर-ऊपरसे वह इतना सादा मालूम होता है, कि आदमी धोखा खा जाता है — गाफिल रहता है। नतीजा यह होता है कि जो करना है, सो किया नहीं जाता, न करनेकी बातें की जाती हैं और रोगको अनजाने जोर पकड़नेकी अनुकूलता मिल जाती है। इसके सादेपनके प्रति उदासीन रहना पुसाता नहीं। यह किस समय ज़ोर पकड़ लेगा और अजेय बन जायगा, सो कहा नहीं जा सकता। इसपर काबू पानेके लिये तुरन्त कोशिश की जाय, तभी सफलता मिल

सकती है। राजरोगका निवारण करनेके लिये सबसे अधिक प्रभावशाली और अनिवार्य उपाय 'आहारविहारयोग' है। इसके यथोचित सेवनसे बहुतेरे असमयमें मौतकी शरण जानेसे बचे हैं।

फिर भी राजरोग अनेक रूपोंवाला रोग है। कुछ लोगोंके शरीरमें वह छिपे-छिपे बहुत नुकसान करता रहता है, और फिर प्रकट होता है; और, कुछको 'आहारविहारयोग' से संतोषजनक और पर्याप्त लाभ नहीं होता या उसमें बहुत देर लग जाती है। ऐसोंके लिये अनुकूल शस्त्र-क्रियाका उपयोग करनेसे राजरोगको हटानेकी मुश्किल आसान हो जाती है। शस्त्र-क्रिया 'आहारविहारयोग'की उपयोगी पूर्ति सिद्ध हुई है। इसकी मददसे बहुतेरे तन्दुरुस्ती हासिल करते हैं और काम-धन्धेसे लग जाते हैं; बहुतोंकी ज़िन्दगी बढ़ जाती है; इलाजमें समय कम लगता है, और सुधार अधिक टिकाऊ साबित होता है।

फेफड़ोंके क्षयसे सम्बन्ध रखनेवाली चीरफाड़को अंग्रेज़ीमें 'कोलैप्स थेरापी' (= collapse therapy) कहा जाता है। यह कई प्रकारकी होती है, लेकिन सब प्रकार सबके लिये उपयोगी नहीं होते। किस बीमारको कौनसा तरीक़ा माफिक आयेगा, इसका फैसला तो इस इल्मका जाननेवाला सर्जन ही कर सकता है। बाज़ दफ़ा एक ही बीमारके लिये एकसे ज्यादा तरीक़ोंको इस्तेमाल करना पड़ता है, और उसका भी कोई ख़ास सिलसिला नहीं होता। सारा आधार रोगके स्वरूप और विस्तार पर और रोगीकी साधारण शारीरिक स्थिति और शक्ति पर रहता है।

तपेदिक़के इलाजमें आराम सबसे महत्त्वकी चीज़ है। मन, वाणी और शरीरको जितना ज्यादा आराम दिया जाता है, उतना ही ज्यादा आराम फेफड़ोंको मिलता है। इस तरह दिया जानेवाला

आराम बाज़ दफ़ा रोगको दबानेमें काफ़ी साबित होता है, और बाज़ दफ़ा कम पड़ता है। शस्त्रक्रिया आरामकी कमीको दूर करनेमें मदद पहुँचाती है।

फेफड़ोंका काम है, साँस लेना और छोड़ना। साँस लेते समय फेफड़ा खुलता है और छोड़ते समय बंद होता है। यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। इसलिये रोगके घावोंको भरनेके लिये जो आराम ज़रूरी है, वह कभी-कभी अकेली विश्रान्तिसे पूरापूरा नहीं मिलता। अगर फेफड़ेको काम करनेसे रोका जा सके, तो रोग पर काबू पाना आसान हो जाय। चीर-फाड़की मददसे यही किया जाता है। इससे फेफड़ा सिकुड़कर दबता है और उसके तन्तुओंमें शिथिलता आती है। फेफड़ेके दबनेसे उसका रोगवाला हिस्सा निचुड़ जाता है, रोगकी रज बाहर निकल जाती है या क़ैद हो जाती है और घाव भर जाते हैं। जैसी चीरफाड़, वैसा नतीजा। कुछ चीरफाड़ फेफड़ेको सिकोड़नेवाली होती है, और कुछ उसमे शिथिलता पैदा करती है। कुछमें फेफड़ोंकी हरकतको लौटाया जा सकता है, और कुछमें की हुई तब्दीलियाँ क़ायम रहती हैं।

फेफड़ा पसलियोंके पिंजरेमें बैठाया गया है। पसलियाँ 'पेरीऑस्टियम' (periosteum)में जड़ी होती हैं। उनके नीचे 'प्लूरा' (pleura)की दो तहें होती हैं, और इन दो तहोंके बीच खाली जगह रहती है। 'प्लूरा'के नीचे फेफड़ा होता है, और फेफड़ेमें दिक अलग-अलग रूपोंमें नज़र आता है। जब वह दागके रूपमें होता है, तो कुछ जगहोंमें छोटी-बड़ी दरारें — विवर — (cavity) पड़ जाती हैं। जिन तन्तुओंसे फेफड़ा बना है, चेतनरज जब उन्हींका नाश करने लगती है, तो उनकी जगह

खाली पड़ती जाती है और वहाँ दरारें बन जाती हैं। नाशका यह सिलसिला ज़ारी रहता है, तो दरारें बड़ी होती जाती हैं और वहाँ चेतनरजका केन्द्र क़ायम हो जाता है। इन दरारोंसे देहको भयमुक्त करनेके लिये चीरफाड़की खास ज़रूरत रहती है। उससे दाग़ भी मिट जाते हैं।

चीरफाड़का मामूली मतलब तो यही लिया जाता है कि जो रोगवाला भाग है, उसे काट डाला जाय। 'एपेण्डिक्स' (appendix) मे सड़न पैदा हो जाती है, तो उसे निकाल ही डालते हैं; 'कैन्सर' (cancer) होता है, तो उसकी गाँठ काट डाली जाती है। लेकिन तपेदिक़में ऐसा नहीं हो सकता — फेफड़ेके रोगवाले भागको काट डालनेका एक विचार चल पड़ा है, और कहीं-कहीं उसके प्रयोग भी होते हैं, लेकिन अभी वे उपचारकी कक्षा तक नहीं पहुँचे हैं —। तपेदिक़के लिये जो चीरफाड़ होती है, उसमें रोगवाला हिस्सा अछूता ही रहता है। खास क्रियामें भाग लेनेवाले दूसरे अंगों — अवयवों — पर यह क्रिया की जाती है। इसकी वजहसे इसमें विविधता आ जाती है। सभी तरहकी शस्त्रक्रिया एक-से तारतम्यवाली नहीं होती। कुछ कठिन होती हैं, तो कुछ हलकी-आसान। रोगके बलाबलका विचार करके किसी एक प्रकारकी या एकसे अधिक शस्त्रक्रियाका निश्चय किया जाता है। किसीके एक फेफड़ेमें रोग होता है, तो किसीके दोनों फेफड़ोंमें। जब दोनों फेफड़ोंमें रोग दिखाई पड़ता है, तो जिसमें ज़्यादा होता है, उसी पर शस्त्रक्रिया की जाती है। अगर एक फेफड़े पर की गई शस्त्रक्रिया गुणकारी सिद्ध होती है, तो उसका असर दूसरे फेफड़े पर भी दिखाई देता है। किसी-किसीके दोनों फेफड़ोंपर शस्त्रक्रिया करनी पड़ती है। चीरफाड़में जोखिम तो रहती ही है, लेकिन

माहिर और तजरबेकार सर्जन के हाथोंमें आदमी अपनेको सलामत पा सकता है।

क्षयसंबंधी कई तरहकी शस्त्रक्रियायें आज प्रचलित हैं। लेकिन वे सब एक-सी उपयोगी नहीं मानी जातीं। आम तौर पर दस क्रियायें मानी गई हैं। उनमें तीन खास तौर पर फलदायी सिद्ध हुई हैं, और इसलिये उनका प्रचार भी ज्यादा है। उनके अंग्रेज़ी नाम ये हैं: 'न्युमोथॉरेक्स' (pneumothorax) 'फ्रेनिक नर्व पैरेलिसिस (phrenic nerve paralysis) और 'थोरेकोप्लास्टी' (thoracoplasty).

'न्युमोथॉरेक्स' रोगके रूपमें अपने आप पैदा होता है, अतः उससे अलग दिखानेके लिये प्रयत्नपूर्वक पैदा किये जानेवाले 'न्युमोथॉरेक्स' को 'आर्टीफीशियल न्युमोथॉरेक्स' (artificial pneumothorax) कहा जाता है। इसके अंग्रेजीके शुरूके हरूफ लेकर इसे थोडेमें 'ए० पी०' भी कहा जाता है। 'ए० पी०' पैदा करनेमें हमेशा चीरा देनेकी जरूरत नहीं होती। लेकिन अगर प्लूराकी तहें चिपक गई हों, और बीचकी खाली जगह नाबूद हो गई हो, तो 'ए० पी०' पैदा करना नामुमकिन हो जाता है, या मनचाहा परिणाम नहीं निकलता। जब तहें चिपक जाती हैं, तो बहुधा 'ए० पी०'का खयाल छोड दिया जाता है। लेकिन क्वचित् दोनो तहोंको अलग करने और उनके बीचकी जगहको छुडानेके लिये चीरफाड की जाती है। यह क्रिया बहुत नाज़ुक है और निरुपाय होने पर ही की जाती है। अंग्रेज़ीमें इसे 'न्युमोनोलाइसिस' (pneumonolysis) कहते हैं और दस क्रियाओंमें इसकी गिनती होती है।

जब 'ए० पी०' का इलाज करते वैद्य देखता है, तो दो तहोंके बीचकी खाली जगहमें साफ की हुई हवा सुईके जरिये भर दी जाती है। हवाका दबाव फेफड़े पर पड़ता है और फेफड़ा दबता है। फेफड़ेका कितना हिस्सा दबता है, सो कहना कठिन है। अगर दबाव मुनासिब साबित होता है, तो बहुत करके रोगवाला भाग दबता है और रोगको अंकुशमें लाना संभव हो जाता है। एक ही बार हवा भरनेसे फेफड़ा दबता नहीं और हवा भी ज्यादा देर तक टिकती नहीं। जब हवा पच जाती है, तो शुरूमें दो-दो, तीन-तीन दिनके अंतरसे भरनी पड़ती है; धीरे-धीरे बीचकी जगह बढ़ाई जाती है और फिर हफ्ते या पखवाड़ेमें एक बार हवा भरनेसे काम चलता है। इसमें सबके लिये एकसा नियम नहीं होता। किसीमें हवा जल्दी पच जाती है, किसीमें ज्यादा देर तक टिकती है। सबके लिये समान चीज़ एक है: फेफड़ों पर हवाका दबाव सतत रहना चाहिये, और इसके लिये हवा न तो कम होनी चाहिये और न उसका बिलकुल अभाव होना चाहिये। हवाके अभावमें फेफड़े परका दबाव हट जाय, तो दबा हुआ फेफड़ा खुल जाय और रोग जाग उठे। जिन दिनों हवा भरी जाती है, उन दिनों साधारणतः आराम करना जरूरी है।

जब हवाके दबावसे फेफड़ा दबा रहता है, तो दबा हुआ हिस्सा साँस-उसाँसकी क्रियामें नामको ही शरीक होता है, मगर उससे बेचैनी पैदा नहीं होती और रोगवाले हिस्सेको आराम मिलता है। दाहिने फेफड़ेके तीन हिस्से होते हैं और बायेंके दो। इन्हें अंग्रेज़ीमें 'लोब्स' (lobes) कहते हैं। जबतक फेफड़ोंके ये हिस्से नीरोग हैं और साँस लेने-छोड़नेका काम ठीकसे करते हैं, तबतक

जीनेमें दिक्कत नहीं होती. और मामूली तौर पर ऐसा कामकाज करनेमें, जिसमें ज़ोरकी मेहनत न पडती हो, कोई हर्ज नहीं होता।

हवासे फेफडेके दबतेही रोग फौरन दब नहीं जाता। उससे तो सिर्फ घाव भरनेके लिये ज़रूरी अनुकूलता ही मिलती है। क्षयके बारीक घावोंको भरनेमें देर लगती है और फेफडेमें जो दरारें पड गई होती हैं, वे फेफडेके दबने पर धीरे-धीरे सिकुडने लगती हैं। ऊपर-ऊपरसे वे बन्द हुई-सी, भरी-सी भी दीख सकती हैं, लेकिन असलमें वे धीरे-धीरे ही भरती हैं। हवा भरनेकी क्रिया कब तक जारी रक्खी जाय, इसका आधार अंदर होनेवाले सुधारों पर रहता है; फिर भी इसमें ज़्यादा नहीं, तो कम-से-कम दो साल लग सकते हैं। लेकिन इससे फायदा हमेशाके लिये हो जाता है। जल्दबाज़ी करके हवा भरना छोड देनेसे घाव भरनेके काममें रुकावट पैदा होती है, फेफडा खुल जाता है, और रोग फिर जागता नज़र आता है। जितनी खबरदारीके साथ फेफडेको बन्द किया जाता है, उसे खोलते समय भी उतनी ही खबरदारी रखनी पडती है। जब 'एक्स रे' वगैरासे पता चलता है कि रोग शान्त हो चुका है, तभी हवा भरनेका काम धीरे-धीरे घटाया जाता है, और अन्तमें छोड दिया जाता है। फिर तो फेफडा पहलेकी तरह काम करने लगता है।

'ए० पी०'ने गुण किया, तो रोग काबूमें आने लगता है, वज़न और ताकत बढती नज़र आती है और समय पाकर काम-धन्धा करनेकी योग्यता भी आ जाती है।

'ए० पी०'के ज़रिये इलाज कराना यों आसान मालूम होता है, लेकिन इसके ज़रिये हरएकका इलाज बिना रोकटोक या रुकावटके नहीं हो पाता। बाज़ दफा फेफडा जितना चाहिये उतना दबता नहीं और रोगका फैलाव बढता रहता है; कभी-कभी हवा

भरनेकी खाली जगहमें रोगयुक्त पानी भर जाता है। अगर यह पानी जल्दी नहीं सूखता, तो इसे बाहर निकाल लेना पडता है। बाज़ दफा पानी फिर-फिर भर जाता है। कभी-कभी प्लूराकी तहें मोटी हो जाती हैं, और चिपक भी जाती हैं। ऐसी तमाम हालतोंमें हवा भरनेका काम रुक जाता है और फेफडोको दबाये रखनेका काम बढ़ जाता है और मुश्किल बन जाता है। जब हवा ज़रूरतसे ज्यादा भर जाती है, या सुई फेफड़ों तक जा पहुँचती है, तो जी घबराने लगता है। ऐसे समय भरी हुई हवा कम की जाती है। रुकावटें अनसोची आती हैं, उन्हें पहलेसे रोकनेका कोई उपाय हाथमें नहीं रहता, और ऐसेमें जब वे अटल हो बैठती हैं, तो 'ए० पी०' छोड़कर दूसरा इलाज शुरू करनेकी नौबत आ जाती है। 'ए० पी०'की सफलताका आधार मनुष्यकी कुशलता पर ही नहीं रहता, शरीरमें अनजाने जो कुदरती हेरफेर होते रहते हैं, उनका असर कोई मामूली असर नहीं होता। महज़ रुकावट या विघ्नके डरसे 'ए० पी०'का विचार छोडा न जाय। 'ए० पी०'की उपयोगिता बहुतों पर सिद्ध हो चुकी है। 'आहारविहारयोग'की वह एक उपयोगी पूर्ति है।

प्लूराकी तहोंके बीचवाली खाली जगहमें जिस तरह हवा भरकर फेफडोंको दबाया जाता है, उसी तरह कभी-कभी हवाके बदले 'गॉमेनॉल' (gomenol) जैसा तेल भी भरा जाता है और उसके ज़रिये फेफडे पर दबाव डाला जाता है। हवाकी तरह तेल उड़ नहीं जाता, इसलिये उसे बार-बार भरना नहीं पडता। इस तरह तेल भरनेकी क्रियाको अंग्रेज़ीमें 'ओलियोथोरेक्स' (oleothorax) कहा जाता है। यह दस क्रियाओंमेंसे एक है। हवाके बदले तेलका उपयोग करनेसे कोई खास बात नज़र

नहीं आई। तेल एक विजातीय द्रव्य है, और उसे पचाना मुश्किल होता है। इसका ज्यादा प्रचार नहीं है।

इधर तपेदिक के लिये 'फ्रेनिक नर्व पैरेलिसिस' नामक एक दूसरी महत्त्वपूर्ण शस्त्रक्रियाका विशेष प्रचार हुआ है। इसे 'फ्रेनिकोटॉमी' (phrenicotomy) भी कहा जाता है। फ्रेनिक नामकी एक नस गलेके पाससे गुजरती है। उसका सम्बन्ध 'डायाफ्राम' (diaphragm) के साथ है। 'डायाफ्राम' फेफडोंके नीचे और पेटके ऊपरवाले भागकी स्नायु है और साँस लेनेकी क्रियामें उसका उपयोग होता है। जब फ्रेनिक नसको निकम्मा बना दिया जाता है, तो डायाफ्रामका काम बन्द हो जाता है, वह ऊपरको उठ जाता है और फेफडों पर दबाव डालता है। इससे फेफडा भी काम करना बन्द कर देता है, उसमें स्थिरता आ जाती है और उसके तन्तु शिथिल हो जाते हैं। जब रोगका आरंभ ही हुआ होता है और फेफडेमें दरार पड़ चुकती है, लेकिन छोटी होती है, तभी समय रहते यह शस्त्रक्रिया करवा ली जाती है, तो रोग पर उसका अच्छा असर होता है। इससे फेफडा सिकुडता नहीं, लेकिन रोगका जोर कम हो जाता है और घाव भी भरता है। छोटी-छोटी दरारें बन्द हो जाती हैं और वे रुझा जाती हैं। आरामके क्रमको बनाये रहनेमें इस तरीकेसे अच्छी मदद मिलती है। अकेले आरामसे जो फायदा पहुँचता है, उससे बढ़कर फायदा आरामके साथ इसका मेल हो जानेसे मिलता है और वक़्त भी बचता है। आरामकी यह एक बहुत उपयोगी पूर्ति है। कभी ऐसा न करनेकी परिस्थिति भी पैदा हो जाती है। जैसे, रोग बहुत ज़ोर पर हो, और फैल चुका हो, और दरारें भी बड़ी-बडी हों, तो फ्रेनिक पर की गई शस्त्रक्रिया कम काम

आती है। दिकके इलाजमें समयका तत्त्व बहुत महत्त्व रखता है। आज जिस उपाय के आज़मानेसे मनचाहा फल मिल सकता है, उसे मुल्तवी कर देने और बहुत देर बाद हाथमें लेनेसे इच्छित फल शायद मिले, शायद न भी मिले।

'न्युमोथॉरेक्स'का इलाज पूरा होनेके बाद बाज़ दफ़ा बीमारीके फिर लौटनेका डर रहता है। ऐसे वक्त अगर यह शस्त्रक्रिया करा ली जाती है, तो 'न्युमोथॉरेक्स'से मिले लाभको क़ायम रक्खा जा सकता है। थोरेकोप्लास्टीके अखीरमें जो दरार रह जाती है, उसे भरने या बन्द करनेके लिये भी यह शस्त्रक्रिया उपयोगी होती है। अगर फेफड़ोंसे ख़ून बहने लगे, तो वह इससे रोका जाता है। इसकी अपनी काफ़ी उपयोगिता है और इसमें नुक़सान या खतरा नाम ही का है।

इस शस्त्रक्रियामें गलेके पासवाली जगह खोली जाती है और फ्रेनिक नसको पहचानकर, उसे कुचल दिया जाता है। इससे नस बेकार हो जाती है। इसके करनेमें कुछ ही मिनट लगते हैं। इस तरह बेकार बनाई हुई नस पर इसका असर क़रीब छह महीनों तक रहता है। इससे डायाफ्राम और फेफड़ेका काम भी बन्द हो चुकता है, जिससे शरीरकी संरक्षक शक्ति आसानीसे रोगका मुक़ाबला कर सकती है। छह महीनोंकी यह मुद्दत कम ज़्यादा भी हो जाती है, यहाँ गणितके-से चौकस नियम काम नहीं देते। छह महीनोंके अंतमें नस खुल जाती है और पहलेकी तरह काम करने लगती है। इससे डायाफ्रामकी और फेफड़ेकी सुस्ती उड़ जाती है और वे भी काम करने लगते हैं। फ्रेनिक नसको बेकार बनानेसे जो फल निकलनेवाला होता है, वह, उसका असर कम होनेसे पहले ही मालूम हो जाता है। नसको सुन्न बनानेके बाद

भी रोगका ज़ोर कम न हो, बल्कि वह बढ़ता नज़र आये, तो उसका मतलब यह हुआ कि अकेले उससे काम नहीं बनेगा, उसके साथ कुछ दूसरे इलाज भी करने होंगे। फ्रेनिक नसको कुचलकर बेकार बनानेके बदले उसे काटकर हमेशाका एक ऐब खडा कर लेना इष्ट नहीं।

इस पर यह पूछा जा सकता है, कि पहले 'ए० पी०' पैदा की जाय, या फ्रेनिक नसको सुन्न बनाया जाय? लेकिन इन दोनोंके बीच कोई संबंध नहीं। सफलता पानेके लिये आवश्यक अनुकूलता दोनोंमें हमेशा एक-सी नहीं होती। फ्रेनिक नसको सुन्न बनानेमें शायद ही कोई रुकावट पैदा होती हो। लेकिन हवा भरनेमें रुकावटें पेश होती हैं। जब बीमारी शुरू ही हुई होती है, तब फ्रेनिक नसको बेकार बना देनेसे काम बन सकता है और समय भी कम लगता है। जब हालत यह होती है कि फेफड़ा सिकुड़कर दबे नहीं, तबतक बीमारी दूर न हो, तब हवा भरनेकी क्रिया ज्यादा उपयोगी साबित होती है और वह पहले कर ली जाती है। हो सकता है, कि इलाज शुरू करते समय दो तहोंके बीचकी जगह खाली हो और उसमें हवा भरी जा सके, लेकिन हो सकता है कि समय पाकर वह नाबूद हो जाय, और फ्रेनिक नसको निकम्मा बनानेसे फायदा न हो। ऐसे समय 'ए० पी०' पैदा करना भी नामुमकिन हो जाता है, और फलत. 'थोरेकॉप्लास्टी' जैसे इलाजकी ज़रूरत पड सकती है। इस परसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इलाज हमेशा 'ए० पी०' पैदा करनेकी कोशिशसे शुरू करना चाहिये। साराश, इसका कोई एक खास सिलसिला तय नहीं किया जा सकता। इसका फैसला तो हरएक बीमारकी अपनी हालतको देखकर ही किया जा सकता है। सभव है, कि किसी पर एकके

बाद एक दोनो क्रियायें करना ज़रूरी हो जाय । जब हवा भरी जाती हो, तब बीचमें कोई रुकावट खड़ी हो जाय, और हवा न भरी जा सके, तो उसे छोड़कर फ्रेनिक नसको बेकार बनानेकी बात सोचनी चाहिये, अथवा फ्रेनिक नसको निकम्मा बना देनेके बाद भी रोग बढ़ता ही जाता हो, तो 'ए० पी०'का विचार किये बिना छुटकारा नहीं । जब किसी अनुभवी और कुशल सर्जनकी सतत देखरेखमें यह सब होता रहता है, तब रोगीको इसकी चिन्ता करनेकी कोई ज़रूरत नहीं होती । किसी पर एक, तो किसी पर दूसरी क्रिया करना उचित मालूम होता है, और जब एक क्रिया असफल हो जाती है, अथवा परिणामकी दृष्टिसे उसमें बहुत ज़्यादा समय लगता है, तो उसके बदले दूसरी क्रिया की जाती है ।

'थोरेकोप्लास्टी' क्षयसंबंधी एक बड़ी कड़ी और कठिन शस्त्रक्रिया है । यह शस्त्रक्रिया हर किसी डॉक्टरसे नहीं कराई जा सकती । इस शस्त्रक्रियाके मँजे हुए अभ्यासी और रातदिन इसीमें रचेपचे रहनेवाले कुशल सर्जनसे जब यह काम कराया जाता है, तभी आदमी निर्भय रहता और अच्छा परिणाम पा सकता है ।

क्षयकी सार-सँभालमें आराम हरएक अवस्थामें जरूरी है। जब आरामके साथ-साथ हवा भरी जाती या फ्रेनिक नस निकम्मी बनाई जाती है और उसका अच्छा असर होनेवाला होता है, तो वह जल्दी दिखाई पड़ जाता है । जब इन इलाजोंसे फ़ायदा नहीं मालूम होता, और रोगका जोर ज्यों-का-त्यों बना रहता है या बढ़ता नज़र आता है, तब 'थोरेकोप्लास्टी'का विचार करना पड़ जाता है । इस शस्त्रक्रियामें समय खास महत्त्वकी चीज़ रहती है। यदि यह उचित समय पर कर ली जाती है, तो इससे पूरी सफलता मिलनेकी आशा रहती है, अगर व्यर्थका कालक्षेप होता

है और बहुत देरमें की जाती है, तो सफलता कम मिलती है और भावी भयके कारण पैदा हो जाते है। विलम्बसे हानि होती है और हानिको टालना कठिन हैं।

यह शस्त्रक्रिया आखिरी पासा फेंककर देखने जैसी क्रिया नहीं है। इसका अपना सहज और आन्तरिक गुण है। रोगके शुरूमें इसका उपयोग करना इष्ट नहीं माना जाता, क्योंकि इससे हलके इलाज सफलता देते हैं, और उन इलाजोंसे फेफड़ेमें हमेशाके लिये कोई तब्दीली नहीं होती। 'थोरेकोप्लास्टी'से स्थायी परिवर्तन होते हैं, अगर ये टाले जा सकें, तो टाले जायँ. इस खयालसे दूसरी शस्त्रक्रियाओंको आज़मा लेनेके बाद इसका उपयोग उचित माना जाता है।

जिस तरह रोगके शुरूमें 'थोरेकोप्लास्टी' कराना मुनासिब नहीं माना जाता, उसी तरह जब रोग हदसे ज़्यादा बढ़ जाता है और शरीर ख़ूब कमज़ोर हो चुकता है, तब भी यह नहीं की जाती। कमज़ोरीकी हालतमें इसे सहना मुश्किल हो जाता है। जब रोग फैलनेसे रुका हो, उसका असर खासकर एक ही फेफड़े पर हो और दूसरे पर हो भी, तो बहुत कम हो, फेफड़ोंमें घावको भरने की ताकत हो, हृदय ठीक काम करता हो, साँस लेनेमें साँसको फुलानेवाली रुकावटें न हों, और शरीरकी जीवनीशक्ति मज़ेकी हो, तब इस क्रियाके करनेसे जोखिम कम रहती है और सुधारकी संभावना अच्छी। इस शस्त्रक्रियाकी खास उपयोगिता फेफड़ोंमें पड़ी हुई दरारोंको बन्द करनेमें है। छोटी-छोटी दरारें फ्रेनिक नसको निकम्मा बना देनेसे या हवा भरनेसे बन्द हो जाती हैं, लेकिन जब किसी वजहसे ऐसा नहीं होता अथवा वे बड़ी हो जाती हैं, तब यह शस्त्रक्रिया अच्छी मदद करती है। दरार क्षयकी

चेतनरजका धाम है; वह गोलाबारूदसे भरी हुई 'नरेटी' जैसी है। वह बढ़ती रहती है, किसी भी समय चेतनरज उसमेंसे छटककर दूसरी जगह पहुँच जाती है, रोग फैलता है और फेफड़ा खराब होता रहता है। अतएव उसे किसी भी उपायसे मिटाना चाहिये। जबतक दरार नहीं मिटती, शरीरके नाशका भय हमेशा मँडराता रहता है।

फेफड़ा बारह पसलियोंके पिंजरेमें बैठाया गया है। पसलियाँ कमानिका-सा काम करती हैं। उनके सहारे फेफड़ा सुस्थित रहता है और साँस लेते समय खुलता और बंद होता रहता है। पसलियोंका सहारा न हो, तो फेफड़ा निराधार बन जाय और सिकुडकर दब जाय। फेफड़ेके सिकुड़ने पर उसमें पड़े हुए रोगके दाग भी सिकुडते और भरते हैं और उनके साथ दरारें भी सिकुड़ते-सिकुड़ते बन्द होती और भर जाती हैं। जिस तरह सत्याग्रहमें निर्दोषकी बलि देकर दुष्टताका निवारण करनेकी कल्पना है, क्षयके सम्बन्धमें इस शस्त्रक्रियाका वही उपयोग है। पसली नीरोग और निर्दोष होती है; यदि वह काट डाली जाय, तो रोगको वशमें किया जा सकता है। कितनी काटी जाय, इसका निर्णय यह देखकर ही किया जाता है कि दरार कितनी बड़ी है और फेफड़ेमें किस जगह है। जो पसलियाँ दरारके ऊपरी हिस्सेमें होती हैं, उन्हें और उनके ऊपरकी पसलियोंको काटनेकी ज़रूरत पड़ती है। बाज़ दफ़ा दरारके नीचेकी पसली भी काटनी पड़ती है। पसलियाँ सब एक बारमें नहीं काटी जातीं; ज्यादासे ज्यादा तीन पसलियाँ एक साथ काटी जाती हैं; इसलिये ज़रूरतके मुताबिक एक या एकसे ज्यादा बार शस्त्रक्रिया की जाती है। एक साथ कई पसलियोंको काटनेका असर बुरा हो सकता है और उसमें जानका खतरा भी

रह सकता है । शस्त्रक्रिया पीठमें की जाती है । उसके लिये रोगी बेहोश नहीं किया जाता, बल्कि दर्दको मारनेके लिये सुईके ज़रिये शस्त्रक्रियावाले हिस्सेको सुन्न बना दिया जाता है । इसकी वजहसे शस्त्रक्रियाके समय बीमार होशमें रहता हुआ भी तकलीफ महसूस नहीं करता और वह बातचीत भी कर सकता है । पसली पूरीकी पूरी नहीं काटी जाती, बल्कि जितनी ज़रूरी होती है, उतनी ही लम्बाईमें काटी जाती है; कम काटनेसे असर कम होता है, तजरबेसे इसे काटनेकी लंबाईका अन्दाज लगाया जाता है । रोगी अच्छे मनोबलवाला होता है, तो शस्त्रक्रियाके समय वह चुपचाप पड़ा रहता है और कभी कहीं दर्द मालूम होता है, तो सर्जनका ध्यान उसकी तरफ खींचता है और तब तुरन्त ही उसे मिटानेका इलाज किया जाता है । पसलियोंको काटकर जब उन्हें चमड़ीसे अलग करनेके लिये खींचना पड़ता है, तब थोड़ा दर्द होता है, लेकिन वह जल्दी ही मिट जाता है । रोगी जितनी शान्ति रखता है, उतना लाभ उसीको होता है । वह शान्त रहता है, तो सर्जनका और उसके साथियोंका ध्यान सिर्फ शस्त्रक्रियामें होता है; लेकिन जब रोगी अपनी कमजोरीकी वजहसे नाहक घबराता है और बेचैन बनता है, तो वह सर्जनके ध्यानको बँटाता है और खुद अपना ही नुकसान कर लेनेकी हालत पैदा कर लेता है । कुशल सर्जनके हाथों 'थोरेकोप्लास्टी' जैसी विकट क्रिया भी सरल बन जाती है और रोगी निर्भयताका अनुभव करता है ।

शस्त्रक्रिया करते समय जो चीरा लगाया जाता है, वह नौ दिनमें भर जाता है । उसके बाद टाँके तोड़ दिये जाते हैं । अंदरका दर्द घटते-घटते कुछ दिनोंमें बिलकुल मिट जाता है और फिर पट्टी भी छोड़ दी जाती है ।

शस्त्रक्रियासे पसलियाँ कटती हैं, लेकिन रोगका केन्द्र तो फेफड़ेमें होता है और फेफड़ेको तो छुआ तक नहीं जाता; फिर भी शस्त्रक्रियाका असर वहाँतक पहुँचता है। फेफड़ा सिकुड़ता है, और उतने हिस्सेमें बने हुए रोगके दाग़ और दरारें भी सिकुड़ती हैं। लेकिन सिकुडनेका प्रमाण हमेशा निश्चित नहीं रहता। यह नही कहा जा सकता कि सिकुड़न कैसी और कितनी होगी। सिकुड़नेकी क्रिया पूरी होने पर ही इसका पता चल सकता है। चीर-फाड़के बाद फेफड़ोंका सिकुडना शुरू होता है और वह कई दिनो तक ज़ारी रहता है। इसमें भी किसी तरहका कोई हिसाब नहीं किया जा सकता। तीन हफ़्ते बाद 'एक्स-रे'से देखा जाता है। दरारें दबी न हों, तो कुछ और पसलियाँ काटनेकी बात सोची जाती है। दूसरी बारकी चीर-फाड़ तीन से चार हफ़्तोंके बाद करा लेना उचित और आवश्यक माना जाता है। इस बीच घाव भर चुकता है, दर्द मिट चुकता है। और दूसरी कोई ख़ास मुश्किल या उलझन पैदा न हुई हो, तो दूसरी बारकी चीर-फाडके लिये बीमारकी हालत अच्छी बन चुकती है। अगर दुबारा चीर-फाड़ करनेमें ढिलाई होती है, तो उसका असर कम हो जानेका डर रहता है और दरारको मिटानेमें रुकावट पैदा होती है। जब चीर-फाड़ दोसे ज़्यादा दफ़ा करनेकी ज़रूरत मालूम होती है, तब भी, सब कुछ ठीक हो, तो तीन-चार हफ्तोंके बाद करा ली जाती है।

पीठकी ओरसे पसली काटने पर जब फेफड़ेमें आवश्यक सिकुडन पैदा नहीं होती, और दरार खुली रह जाती है, तब छातीवाला हिस्सा खोलकर पसली काटी जाती है। इसका फ़ैसला भी तीन हफ़्तोंके बाद 'एक्स-रे'के ज़रिये किया जाता है।

चीर-फाड़से फेफड़ा दबता है और बादमें भी दबता रहता है। पसलियोंके कट जानेसे फेफडे पर बाहरका जो दबाव पडता है, उसका असर अच्छा होता है। इसके लिये छातीके ऊपरी हिस्से पर वजन रक्खा जाता है। वज़नके लिये सीसेकी गोलियोंवाली थैली बनाई जाती है। सीसा पसंद किया जाता है, क्योंकि उसके कारण थोडी जगहमें ज्यादा वज़न समाता है। वज़न तीन पौंडसे शुरू करके धीरे धीरे बढ़ाया जाता है, और ज़रूरतके मुताबिक ७ पौंड तक ले जाया जाता है। इसके सिवा, चुस्त जाकट पहननी होती है। जिस फेफडे पर शस्त्रक्रिया होती है, उसके पास जाकटके अंदर थोडी कडी गादी रखी जाती है। इससे बेपसलीवाला फेफडा ज्यादा दबता है। रात सोतेमें इसका बहुत उपयोग होता है। जिस ओर शस्त्रक्रिया हुई हो, उसी करवट सोया जा सके, इसका खयाल रखना ज़रूरी है। इससे दबाव बढ़ता है, दूसरे फेफडे तक रोगके फैलनेका डर कम हो जाता है और साँस लेनेमें आसानी होती है। करवटसे सोते समय बगलमें गोल तकिया रखनेसे फेफडे पर दबाव बना रहता है। रात-दिन सहने जितना दबाव पहुँचता रहता है, तो शस्त्र-क्रियाका विशेष लाभ मिलता है। तकियेके बदले झोलीमें करवटके बल सोनेसे भी अच्छा दबाव मिलता है। जब किसी चीज़ पर एक ओरसे दबाव पडता है, और उसके दूसरे बाजू पर कोई स्थिर चीज होती है, तो दबाव अच्छा पडता है। दो फेफडोंके बीचकी तहको 'मीडिया स्टाइनम' (mediastinum) कहते हैं। जब वह काफी स्थिर होता है, तो फेफडेको दूसरी ओर हटनेकी जगह नहीं रहती और इससे खुद फेफडा ही सिकुडता है। वज़न और तकिया या झोली दोनों ज़रूरी हैं। यह बाहरी उपचार बहुत उपयोगी है। इससे साँस

लेनेमें कठिनाई नहीं होती, बलग़म थूकनेमें आसानी होती है और खाँसी आने पर फेफड़ा कम उछलता है, जिससे खाँसीकी थकान कम मालूम होती है। जब खाँसी आये, दरारके ऊपरवाले भागको हाथसे दबाना चाहिये, ताकि दरार कम हिले। खाँसीको दवासे रोकनेकी कोशिश करनेमें नुकसान है। वह बलग़मको निकालनेका उपयोगी साधन है। बलग़मको अन्दर इकट्ठा न होने देना चाहिये। उसमें ज़हर होता है, जो जितनी जल्दी बाहर निकले, उतना ही अच्छा है।

'ए० पी०' में सिर्फ हवाके दबावसे फेफड़ा दबता है; लेकिन हवा भरना बन्द करनेसे वह खुल जाता है। थोरेकोप्लास्टीमें परिणाम इससे भिन्न होता है। उसमे सीधा दबाव नहीं डाला जाता। लेकिन फेफड़ेकी आधारभूत पसलियोंको निकाल लेनेसे फेफड़ा सहारेके अभावमें सिकुड़ जाता है। यह आधार फिर लौटाया नहीं जाता। इसलिये शस्त्रक्रियाके कारण जितना भाग दबता है, वह हमेशा दबा रहता है। वह अपने आप नही खुलता और उसे खोलनेका कोई इलाज भी नहीं। उस भागमें फिरसे रोगका संचार भी प्रायः नहीं होता। जो भाग दबता है, वह मुर्दा-सा नहीं बनता, वह जिन्दा रहता है, लेकिन खास क्रियामें वह नामको ही शरीक होता है। वहाँ लहूका संचार भी कम होता है। उसकी उपयोगिता कम रहती है, फिर भी सरल जीवन बितानेमें अड़चन नहीं आती।

थोरेकोप्लास्टीसे फफड़ा दबे, दरार भी दबे और 'एक्स-रे' में दिखाई भी न दे, तो भी इतनेसे काम पूरा नहीं होता। इसका मतलब तो सिर्फ इतना ही होता है कि रोग पर पूरा काबू पानेकी अनुकूलता पैदा हो गई है। दरारका बद होना, उसका मिटना

नहीं कहा जा सकता। यह तो सिर्फ पेटीके ढक्कनको बन्द करने जैसा हुआ, उसपर जंजीर न चढ़ाई जाय, तो वह खुल जाय। इसी तरह दरार सिकुड़कर बन्द हो जाय और उसके आमने-सामनेके किनारे एक दूसरेसे सट जायँ, तो भी जबतक उसपर उसे भरनेवाले तंतुओंकी कभी न उखड़नेवाली मुहर न लगे, उसके खुल जानेका डर रहता है। इस स्थितिसे बचनेके लिये पूरी खबरदारीके साथ आरामका सिलसिला जारी रखना चाहिये और शक्ति बढ़ाकर उसका संचय करना चाहिये; क्योंकि यही वक्त है, जब कायमी असर पैदा होता है।

थोरेकोप्लास्टी अकसीर इलाज है। उसमें दरारें बन्द होती हैं, बलगम कम होते-होते बनना बन्द हो जाता है, चेतनरजका पैदा होना रुकता है, दूसरे फेफड़ेमें सुधार होता है, रोग काबूमें आ जाता है और काम-काजके लिये शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा इष्ट फल सबको समानरूपसे नहीं मिल सकता, क्योंकि शस्त्र-क्रियासे पहले सबकी हालत सरीखी नहीं होती। चीरफाड़ करानेमें देर हुई हो, दरार बहुत बढ़ गई हो, और उसके किनारे कड़े हो गये हों, फेफड़ोंके आस-पासका हिस्सा कड़ा बन गया हो, दरारके ऊपरका प्लूरावाला भाग मोटा हो गया हो, नई पसलीको आनेसे रोकनेका कोई उपाय न किया गया हो, पसलियाँ काफी तादादमें निकाली न गई हों, और वे काफी लम्बाईमें काटी न गई हों, चीर-फाड़के बाद बाहरसे दबाव डालनेका सिलसिला जारी न रह पाया हो, तो फेफड़ा जितना चाहिये उतना दबता नहीं, अथवा रोगवाले हिस्सेमें आवश्यक सिकुड़न पैदा नहीं होती, और इस वजहसे पूरा संतोषजनक फल नहीं मिलता। अनुकूल फलकी प्राप्तिके लिये इनमेंसे कुछ कारण तो दूर किये जा सकते हैं, लेकिन कुछ पर कोई असर

नहीं डाला जा सकता। अवयवकी नैसर्गिक शक्ति कितनी होती है और वह किस तरह लाभ पहुँचाती है, इसे जाननेका कोई साधन नहीं है और उसमें सोच-समझकर कोई हेरफेर करना मुमकिन नहीं है।

संभव है, कि चीरफाड़से पूरी सफलता न मिले, फिर भी उसकी उपयोगिता तो है। बहुत सावधानीके साथ चीरफाड़ करने पर भी कुछ मामलोंमें दरार पूरी-पूरी बन्द नहीं होती, फिर भी वह कम तो होती ही है। उसके आस-पासका फेफड़ा सिकुड़ता है, और रोगके द्वीप जैसी बची हुई दरार अलग रह जाती है; उसे बढ़नेका मौक़ा कम मिलता है। चीरफाड़से पहलेकी दरारकी तरह अब वह खतरनाक नहीं रहती; फेफड़ेके छिद्र — दाग़ — भर जाते हैं, ताक़त भी बढ़ती है और काम-काज भी किया जा सकता है। चीरफाड़से पहले यह स्थिति आ नहीं सकती। कभी-कभी बाक़ीकी दरार बहुत धीमी गतिसे भरती है और एक अर्सेके बाद निकम्मी हो जाती है। थोरेकोप्लास्टी जीवनको बढ़ाने और उसे उपयोगी बनानेवाली शस्त्रक्रिया है।

थोरेकोप्लास्टीके अन्तमें जो दरार बच रहती है, उसे पूरनेके लिये फ्रेनिक नसको निकम्मा बनानेका असर अच्छा हो सकता है। दरारमें बलग़म भरा रहता हो, उसकी मिकदार भी ज्यादा हो, और श्वासनलिकाके ज़रिये उसे निकालना मुश्किल हो, तो ठेठ दरार तक पहुँचनेवाली शस्त्रक्रिया की जाती है। इसके लिये छातीमें छेद किया जाता है; उसके ज़रिये दरारके अंदर नली उतारी जाती है और वहाँ रख छोड़ी जाती है। इस नलीके ज़रिये दरारमें पैदा होनेवाला कफ बाहर निकाला जाता है। इस तरीकेसे दरारके बन्द होनेकी आशा रक्खी जाती है। इस शस्त्रक्रियाका ज्यादा प्रचार

नहीं हुआ है । अंग्रेज़ीमें इसे 'सर्जिकल ड्रेनेज' (surgical drainage) कहते हैं, और दस शस्त्रक्रियाओंमें इसकी गणना की जाती है ।

'एक्स्ट्रा प्लूरल न्युमोनोलाइसिस' (extra pleural pneumonolysis) नामक शस्त्रक्रिया करनेमें पसली तक पहुँचा जाता है । इसमें एक ही पसलीका टुकड़ा काटा जाता है, और इस तरह पसली और प्लूरा की ऊपरी तहके बीच जगह तैयार की जाती है । इस जगहमें पैराफीन, मोम, वगैरा माफिक आनेवाली चीज़ें भरी जाती हैं और उनके ज़रिये दरारके ऊपरवाले भाग पर दवाव डालनेकी और उसे बन्द करनेकी आशा रक्खी जाती है । यह क्रिया क्वचित् की जाती है । इससे थोरेकोप्लास्टीका काम नहीं निकलता ।

पसलियों पर एक और प्रकारकी शस्त्रक्रिया भी होती है, जो 'सुप्रापेरीयोस्टीयल एन्ड सबकोस्टल न्युमोनोलाइसिस' (supra-periosteal and subcostal pneumonolysis) कहलाती है। इसमें फेफड़ेके रोगग्रस्त भागके ऊपरकी पसलियोंको पेरीयॉस्टीयमके आवरणसे मुक्त किया जाता है, जिससे खुली हुई पसलियोंके नीचे जगह बन जाती है । इस जगहमें दवाव डालनेके लिये उचित चीज़ें भरी जाती हैं । इसका उपयोग भी कम ही होता है । थोरेकोप्लास्टीके साथ इसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती ।

फ्रेनिक नसकी तरह पसलियोंके पासवाली नसोंको सुन्न बनाया जाता है । इसे 'मल्टीपल इण्टरकोस्टल नर्व पैरेलिसिस' (multiple intercostal nerve paralysis) या 'न्युरेक्टॉमी' (pneurectomy) कहा जाता है । इसकी वजहसे साँस-उसाँस लेनेमें फेफड़ोंका खुलना, बद होना कम हो जाता है

और फेफड़ेको आराम पहुँचता है। यह शस्त्रक्रिया भी क्वचित् ही करवाई जाती है।

'स्केलीन' (scalene) नामक स्नायु श्वासक्रियामें भाग लेते हैं। इन स्नायुओंका कुछ हिस्सा काट डाला जाता है। इस शस्त्रक्रियाको 'स्केलीनीयेकटॅामी' (scaleniectomy) कहते हैं। इसमें लाभके मुक़ाबले जोखिम ज़्यादा है। इसका बहुतही कम उपयोग किया जाता है।

इन चारों शस्त्र-क्रियाओंकी गणना दसमें होती है; लेकिन इनकी उपयोगिता कम है। रोगके शुरूमें इनका विचार करनेकी ज़रूरत नहीं होती; तब तो हवा भरने या फ्रेनिक नसको सुन्न करनेसे काम चल जाता है। जब रोग ज़्यादा बढ़ जाता है, तो 'थोरेकोप्लास्टी'का विचार किया जाता है; क्योंकि जो मदद उससे मिलती है सो इन चारोंमेंसे एकसे भी नहीं मिलती। सार-सँभालमें इनका स्थान बहुत गौण है।

क्षय किसी समय असाध्य रोग था। निदानकी पद्धतिमें सुधार होने और 'आहारविहारयोग'का प्रबन्ध होनेसे वह बहुतोंके लिये सुसाध्य बन गया। फिर भी, जो बहुतसे असाध्यकी कोटिमें रह जाते या खिसक जाते थे, उनमेंसे कइयोंके लिये शस्त्रक्रिया लाभदायक सिद्ध हुई है। वह राजरोग की चिकित्साका एक सम्मानित अंग है। 'आहारविहारयोग'की पद्धतिको, वह विशेष उपयोगी बनाती है। वह निराशाको दूर करके आशा बँधाती है। अवसर आने पर समय रहते इसका प्रयोग कर लेनेमें हित है।